प्रकाशक
डॉ० दरबारीलाल कोठिया,
मन्त्री, वीरसेवामन्दिर-ट्रस्ट,
चमेली-कुटीर,
१/१२८, डुमराव कालोनी, अस्सी,
वाराणसी–५ (उ० प्र०)

प्रथम सस्करण · एक हजार प्रतियाँ
जून १९६७

द्वितीय सस्करण ११०० प्रतियाँ
आषाढी अष्टाह्निका, वीर निर्वाण संवत् २५०४
जुलाई १९७८

मूल्य : ५ रु०

मुद्रक
बाबूलाल जैन फागुल्ल
महावीर प्रेस, भेलूपुर, वाराणसी

ग्रन्थानुक्रम

स्वामिनश्चरितं तस्य कस्य नो विस्मयावहम् ।
देवागमेन सर्वज्ञो येनाद्यापि प्रदर्श्यते ॥

—वादिराजसूरि

समन्तभद्रो भद्रार्थो भातु भारतभूषण ।
देवागमेन येनात्र व्यक्तो देवागम कृत ॥

—शुभचन्द्राचार्य, पार्श्वनाथचरित

समर्पण

त्वदीय वस्तु भो स्वामिन् !
तुभ्यमेव समर्पितम् ।

हे आराध्य गुरुदेव स्वामी-समन्तभद्र ! आपकी यह अपूर्व अनुपम कृति देवागम (आप्तमीमांसा) मुझे आजसे कोई ७० वर्ष पहले प्राप्त हुई थी। उस वक्तसे बराबर यह मेरी पाठ्य वस्तु बनी हुई है और मैं इसके अध्ययन-मनन तथा मर्मको समझनेके प्रयत्न-द्वारा इसका समुचित परिचय प्राप्त करनेमें लगा रहा हूं। वह परिचय मुझे कहाँ तक प्राप्त हो सका है और मैं कितने अंशोंमें इस ग्रन्थके गूढ तथा गम्भीर पद-वाक्योंकी गहराई-में स्थित अर्थको मालूम करनेमें समर्थ हो सका हूँ, यह सब संक्षेपमें ग्रन्थके अनुवादसे, जो आपके अनन्यभक्त आचार्य श्रीविद्यानन्दजीकी अष्ट-सहस्री-टीकाका बहुत कुछ आभारी है, जाना जा सकता है, और उसे पूरे तौरपर तो आप ही जान सकते हैं। मैं तो इतना ही समझता हूँ कि आपकी आराधना करते हुए, जिनका मैं बहुत ऋणी हूँ, मुझे जो दृष्टि-शक्ति प्राप्त हुई है और उस दृष्टि-शक्तिके द्वारा मैंने किसीका भी निमित्त पाकर जो कुछ अर्थका अवलोकन किया है, यह कृति उसीका प्रतिफल है। इसमें आपके ही विचारोंका प्रतिबिम्ब होनेसे वास्तवमें यह आपकी ही वस्तु है और इसलिये आपको ही सादर समर्पित है। आप लोकहित-की मूर्ति हैं, आपके प्रसादसे इस कृति-द्वारा यदि कुछ भी लोकहितका साधन हो सका तो मैं अपनेको आपके ऋणसे कुछ उऋण हुआ समझूँगा।

विनम्र
जुगलकिशोर

प्रकाशकीय

मन् १९६४ में वीरसेवामन्दिर-ट्रस्ट-द्वारा 'समाधिमरणोत्साहदीपक' का प्रकाशन हुआ था और अब प्रस्तुत स्वामी समन्तभद्रकृत देवागम (आप्तमीमामा) का उसके हिन्दी-भाष्यके साथ मुद्रण हो रहा है। यह हिन्दी-भाष्य प्रसिद्ध साहित्य और इतिहासवेत्ता तथा स्वामी समन्तभद्रके अनन्यभक्त एव उनकी कृतियोंके मर्मज्ञ श्रद्धेय पण्डित जुगलकिशोरजी मुख्तार अधिष्ठाता वीरसेवामन्दिर-ट्रस्टद्वारा रचा गया है। विज्ञ पाठकोसे यह अविदित नही है कि स्वामी समन्तभद्रकी प्राय. सभी उपलब्ध कृतियाँ अत्यन्त गम्भीर, दुरूह और दुरवगाह हैं। एक 'रत्नकरण्डकश्रावकाचार' ही ऐसी कृति है जो अन्य कृतियोसे अपेक्षाकृत सरल है। पर यह सैद्धान्तिक रचना है और इसलिए उसका सरल होना स्वाभाविक है। धर्मका उपदेश सरल भाषामें होना ही चाहिए। समन्तभद्रकी शेष कृतियोमें 'स्तुति-विद्या' काव्य-शास्त्रकी उच्च कोटिकी रचना है जो समन्तभद्रके तत्सम्बन्धी वैदुष्यको प्रकट करती है। देवागम, युक्त्यनुशासन और स्वयम्भूस्तोत्र ये तीनो दार्शनिक रचनाएँ हैं, जो जैन दर्शनकी अप्रतिनिधि कृतियाँ है और जिनमे समग्र जैन वाङ्मय प्रदीप्त है।

प्रसन्नताकी बात है कि स्तुति-विद्याको छोडकर शेष चारो कृतियोका व्याख्याता होनेका सौभाग्य मुख्तारसाहबको प्राप्त है। उन्होंने इन कृतियोका वर्षों तक स्वय अध्ययन, मनन और अनुशीलन किया और तब उनपर व्याख्यान लिखे हैं। यद्यपि उन्होने इन कृतियोको गुरुमुखसे पढा नही, फिर भी उन्होंने इनके मर्मको जितनी अच्छी तरह समझा तथा अपने भाष्योमें उसे प्रस्तुत किया उतनी अच्छी तरह गुरु-मुखसे उन्हे पढ़नेवाला भी सम्भवत नही कर सकता। टीकाओ, कोषो और ग्रन्थान्तरोके आधारसे उन्होंने इन भाष्योको लिखा है और इसमें उन्हे कठोर परिश्रम करना पडा है। फलत वे इन ग्रन्थोके तलद्रष्टा एव सफल व्याख्याता सिद्ध हुए हैं।

प्रस्तुत देवागम-भाष्य उसी क्रममें सन्निविष्ट है। स्वयम्भूस्तोत्र, युक्त्यनुशासन आदिकी तरह इसके भी प्रत्येक पद-वाक्यादिका उन्होंने अच्छा अर्थ-स्फोट किया है और ग्रन्थकारके हार्दको प्रस्तुत करनेमें सफल हुए हैं। इस महत्त्वपूर्ण रचनाको उपस्थित करनेके लिए वे समाजके विशेषतया विद्वानोंके धन्यवादार्ह हैं।

इसकी प्रस्तावना लिखनेका वायदा हमने किया था। परन्तु हमें अत्यन्त खेद है कि हम उसे शीघ्र न लिख सके और जिसके कारण डेढ वर्ष जितना विलम्ब इसके प्रकाशनमें हो गया। इसके लिए हम पाठकोंसे क्षमा-प्रार्थी हैं। मुख्तार साहबका धैर्य और स्नेह ही प्रस्तावनाके लिखानेमें निमित्त हुए, अत हम उनके भी कृतज्ञ हैं।

यहाँ इतना और हम प्रकट कर देना चाहते हैं कि यह ग्रन्थ कुछ कारणोंसे दो प्रेसोंमें छपाना पडा। मूल ग्रन्थ (पृ० १–११२) तो मनोहर प्रेसमें छपा और शेष सब महावीर प्रेसमें। महावीर प्रेसकी तत्परताके लिए हम उसे धन्यवाद देना नही भूल सकते।

आशा है पाठक इस महत्त्वपूर्ण कृतिको प्राप्तकर प्रसन्न होंगे और विलम्बजन्य कष्टको भूल जावेंगे।

११ अप्रैल १९६७, —दरबारीलाल जैन कोठिया
चैत्र शुक्ला २, वि० स० २०२४। मन्त्री, वीरसेवामन्दिर-ट्रस्ट



अनुवादकीय वक्तव्य

मूलके अनुकूल वाद—कथनको अनुवाद कहते है। जो अनुवाद मूलका ठीक-ठीक अनुसरण न करे, मूलकी सीमासे बाहर निकल जाय अथवा बीच-बीचमें इधर-उधरकी कुछ ऐसी दूसरी बातोंको अपनेमें समाविष्ट करे, जिनका प्रकृत विषयके साथ कोई सम्बन्ध न हो वह अनुवाद कहलानेके योग्य नही। अनुवाद्य-ग्रन्थ यहाँ 'देवागम' है, जो स्वामी जैसे उन अद्वितीय महान् आचार्यकी अपूर्व कृति है जिनके वचनोंको उत्तम पुरुषोंके कण्ठोंका आभूषण बननेवाली बड़े-बड़े गोल-सुडौल मोतियोंकी मालाओंकी प्राप्तिसे अधिक दुर्लभ बतलाया है। भव-भ्रमण करते हुए ससारी प्राणियोंको मनुष्य-भवके समान दुर्लभ दर्शाया है और भगवान् महावीर-वाणीके समकक्ष देदीप्यमान घोषित किया है। देवागम यह नाम ग्रन्थके 'देवागम' शब्दसे प्रारम्भ होनेसे सम्बन्ध रखता है, जैसे भक्तामर, कल्याणमन्दिर, स्वयम्भूस्तोत्रादि ग्रन्थ प्रारम्भिक शब्दके अनुरूप अपने-अपने नामोंको लिए हुए हैं उसी प्रकार यह ग्रन्थ भी, जो वस्तुत एक असाधारण कोटिका स्तोत्र-ग्रन्थ है, अपने प्रारम्भिक शब्दानुसार 'देवागम' कहा गया है। इसका दूसरा नाम 'आप्तमीमासा' है, जो आप्तों—सर्वज्ञ कहे जानेवालों—के वचनोंकी परीक्षाद्वारा उनके मतोंके सत्यासत्यनिर्णयकी दृष्टिको लिए हुए है। समन्तभद्रके सभी ग्रन्थ दो-दो नामोंको लिए हुए है, जैसे 'जिन-शतक' का दूसरा नाम 'स्तुतिविद्या' और युक्त्यनुशासनका दूसरा नाम 'वीरजिनस्तोत्र' है, जो देवागमके बाद—सब आप्तों-सर्वज्ञोकी परीक्षा कर लेनेके अनन्तर—श्रीवीरजिनकी स्तुतिमें लिखा गया है। समन्तभद्रके किसी भी ग्रन्थका नाम केवल प्रारम्भिक शब्दके आधारपर ही नही है किन्तु साथमें गुणप्रत्यय भी है, देवागम भी ऐसा ही नाम है वह मूलकारिकानुसार देवोंके आगमनका वाचक ही नही बल्कि जिनेन्द्रदेवका आगमन जिसके द्वारा व्यक्त होता है उस अर्थका भी वाचक है।

देवागमकी मूल कारिकाएँ कुल ११४ हैं, देखनेमें प्राय सरल जान

पडती है—सामान्य अर्थकी दृष्टिसे कोई खास कठिनाई मालूम नही पडती, परन्तु विशेषार्थ और फलितार्थकी दृष्टिसे जब विचार किया जाता है तो बहुत कुछ गहन-गम्भीर तथा अर्थगौरवको लिए हुए जान पडती है। सभी कारिकाएँ प्राय सूत्ररूपमें है। अनेक कारिकाओमें तो कितने ही सूत्र एकसाथ निबद्ध हो रहे है। सूत्रशैली प्राय अनिसक्षिप्तरूपसे कथनकी शैली है और इसलिए सूत्रो अथवा सूत्ररूप कारिकाओका अर्थ स्पष्ट करनेके लिए कितनी ही बातोका ऊपरसे लेना—लगाना होता है, जिनसे यह मालूम हो सके कि सूत्रकारके सामने क्या परिस्थिति थी, कोई मत-विशेष अथवा प्रश्न-विशेष उपस्थित था, जिसे लेकर इसका अवतार हुआ है। श्री अकलकदेवने अपने अष्टशती (आठसौ श्लोकोंके परिमाण जितने)-भाष्यमें देवागमकी अर्थदृष्टिको सूत्ररूपमें ही खोला है। परन्तु विषयकी दृष्टिसे वे सूत्र इतने कठिन और दुर्गम हो गये हैं कि साधारण विद्वान्की तो बात ही क्या, अच्छे विद्वान् भी उसे सहजमें नही लगा सकते है। उक्त अष्टशती-भाष्यको अपनाकर श्रीविद्यानन्दाचार्यने देवागमपर जो अष्टसहस्री (आठ-हजार श्लोक परिमाण) नामकी अलङ्कृति लिखी है उससे अष्टशतीका सूत्रार्थ स्पष्ट अवभासित होता है और उसकी गम्भीरता एव जटिलताका पता चल जाता है। यह अष्टसहस्री-टीका भी विषयकी दृष्टिसे कठिन शब्दोकी भरमारको लिए हुए है और इसलिए एक विद्वान् यशोविजय (श्वेताम्बराचार्य) को इसपर टिप्पण लिखना पडा है, जिसका परिमाण भी आठ हजार श्लोक जितना हो गया है। इससे मूलग्रन्थ कितना अधिक गहन, गम्भोर तथा अर्थगौरवको लिए हुए है, यह और भी स्पष्ट हो जाता है।

अष्टसहस्रीको स्वय विद्यानन्दाचार्यने 'कष्टसहस्री' लिखा है अर्थात् उसका निर्माणकार्य सहस्रो कष्ट झेलकर हुआ है और यह बात उन विज्ञ पाठकोसे छिपी नही, जो ऐसे खोजपूर्ण महत्त्वके ग्रन्थोका निर्माणकार्य करते है—उन्हें पद-पदपर उस कष्टका अवभासन होता है—साधारण विज्ञ पाठकोके वशकी वह बात नही। ठीक है, प्रसवमें जो भारी वेदना होती है उसे बाँझ क्या जाने? आचार्य महोदयने एक बात इस अष्ट-

सहस्रीके विषयमें और भी लिखो है और वह यह कि 'हजार शास्त्रोके सुननेसे क्या, एक अष्टसहस्रीको सुनना चाहिए, जिस अकेलीसे ही स्वसमय और परसमय दोनोका यथार्थ वोध होता है[1]।' यह मात्र अपने ग्रन्थकी प्रशसामें लिखा हुआ वाक्य नही है, वल्कि सच्ची वस्तुस्थितिका द्योतक है। एक वार खुर्जाके सेठ प० मेवारामजीने वतलाया था कि जर्मनी-के एक विद्वान्ने उनसे कहा है कि 'जिसने अष्टसहस्री नही पढी वह जैनी नही और जो अष्टसहस्रीको पढकर जैनी नही हुआ उसने अष्टसहस्रीको समझा नही।' कितने महत्त्वका यह वाक्य है और एक अनुभवी विद्वान्के मुखमे निकला हुआ अष्टसहस्रीके गौरवको कितना अधिक स्थापित करता है। सचमुच अष्टसहस्री ऐसी ही एक अपूर्व कृति है और वह देवागमके मर्मका उद्घाटन करती है। खेद है कि आज तक ऐसी महत्त्वकी कृतिका कोई हिन्दी-अनुवाद ग्रन्थ-गौरवके अनुरूप होकर प्रकाशित नही हो सका।

जिन्होने स्तुति-विद्याका अध्ययन किया है वे जानते हैं कि समन्त-भद्रको शब्दोके ऊपर कितना अधिक एकाधिपत्य प्राप्त था। श्लोकके एक चरणको उलटकर दूसरा चरण, पूर्वार्धको उलटकर उत्तरार्ध और सारे श्लोकको उलटकर दूसरा श्लोक वना देना तो उनके वाएँ हाथका खेल था। वे एक ही श्लोकके अक्षरोको ज्यो-का-त्यो स्थिर रखते हुए उन्हें कुछ मिलाकर या अलगसे रखकर दो अर्थोके वाचक दो श्लोक प्रस्तुत करते थे। श्रीवीर भगवान्की स्तुतिमें एक पद्यका उत्तरार्ध है 'श्रीमते वर्द्धमानाय नमो नमितविद्विषे।' यही उत्तरार्ध अगले दो पद्योका भी उत्तरार्ध है। परन्तु अर्थ तीनो पद्योंके उत्तरार्धोका एक-दूसरेसे प्राय भिन्न है। ये सव वातें रचनाके महत्त्व और उनकी कला-पूर्णताको व्यक्त करती हैं। प्रस्तुत देवागम भी ऐसे कलापूर्ण महत्त्वसे अछूता नही, उसमें एक कारिकाको एक जगह रखनेपर एक अर्थ, दूसरी जगह कुछ कारिकाओंके मध्य रखनेपर दूसरा अर्थ और तीसरी जगह

---

१ श्रोतव्याष्टसहस्री श्रुतै किमन्यै सहस्रसख्यानै ।
विज्ञायेत ययैव स्वसमय-परसमयसद्भाव ॥

रखनेपर तीसरा अर्थ हो जाता है। वह कारिका है 'विरोधान्नोभयैकात्म्य' नामकी, जिसे ग्रन्थमें ९ स्थानोपर रखा गया है और ग्रन्थ-सन्दर्भकी दृष्टिसे अपने-अपने स्थानपर उसका अलग-अलग अर्थ होता है—एक स्थानपर जो अर्थ घटित होता है वह दूसरे स्थान पर घटित नही होता।

ऐसे महान् आचार्यके इतने गहन, गभीर तथा अर्थगौरवको लिए हुए कलापूर्ण ग्रन्थका अनुवाद मेरे जैसा व्यक्ति करे, जिसने न किसी विद्यालय-कालेजमें व्यवस्थित शिक्षा ग्रहण कर डिग्री प्राप्त की है और न साक्षात् गुरुमुखसे ही ग्रन्थका अध्ययन किया है, यह आश्चर्यकी ही बात है! फिर भी स्वामी समन्तभद्र और उनके वचनोके प्रति मेरी जो भक्ति है वही यह सब कुछ अद्भुत कार्य मुझसे करा रही है—'त्वद्भक्तिरेव मुखरीकुरुते बलान्माम्' मानतुङ्गाचार्यका यह वाक्य यहाँ ठीक घटित होता है। इसी भक्तिसे प्रेरित होकर मैंने इससे पहले स्वामीजीके तीन ग्रन्थो—स्वयम्भूस्तोत्र, युक्त्यनुशासन और समीचीन धर्मशास्त्रके अनुवादादि प्रस्तुत किये है जो विद्वानोको रुचिकर जान पडे है। इसके लिए स्व० न्यायाचार्य प० महेन्द्रकुमारजीका एक वाक्य यहाँ उद्धृत कर देना अनुचित न होगा, जो उन्होने तत्त्वानुशासनके 'प्राक्कथन' में ग्रन्थके-अनुवाद-विषयमें लिखा है—

'युक्त्यनुशासन जैसे जटिल और सारगर्भ महान् ग्रन्थका सुन्दरतम अनुवाद समन्तभद्र स्वामीके अनन्यनिष्ठभक्त साहित्य-तपस्वी प० जुगलकिशोरजी मुख्तारने जिस अकल्पनीय सरलतासे प्रस्तुत किया है वह न्यायविद्याके अधिकारियोके लिए आलोक देगा।"

इस प्रकारके विद्वद्वाक्योसे मुझे प्रोत्साहन मिलता रहा और मैं बराबर अपने कार्यमें अग्रसर होता रहा हूँ।

देवागमकी प्राप्ति मुझे आजसे कोई ७० वर्ष पहले जयपुरके प० जयचन्दजीकी जयपुरी भाषामें लिखी टीका-सहित हुई थी, जिसकी मैंने स्वाध्यायके अनन्तर निज पठनार्थ प्रेमपूर्वक प्रतिलिपि भी अच्छे पुष्ट कागजके शास्त्राकार खुले पत्रोपर की थी, जिसकी पत्रसख्या ९० है और जो मगसिर वदी सप्तमी सवत् १९५५ को लिखकर समाप्त हुई थी।

यह हस्तलिखित प्रति आज भी मेरे संग्रहमें सुरक्षित है। इस टीकासे मुझे ग्रन्थको अधिकाधिक जानकारीके लिए और जो गुत्थियाँ इस टीकासे नही सुलझ सकी उन्हें सुलझानेके लिए दूसरी टीकाओको देखनेकी प्रेरणा मिली और मै बराबर उनकी तलाशमें रहा। सन् १९०५ में सनातन जैन ग्रन्थमालाका प्रथम गुच्छक बम्बईसे प्रकाशित हुआ, जिसमें वसुनन्दि आचार्यकी एक वृत्ति (संस्कृत-टीका) देखनेको मिली। यह वृत्ति शब्दार्थकी दृष्टिसे अच्छी उपयोगी जान पडी। इसके अन्तमें आचार्यने स्वामी समन्तभद्रको 'त्रिभुवनलब्धजयपताक', 'प्रमाणनयचक्षु' और 'स्याद्वादशरीर' जैसे विशेषणोंके साथ उल्लेखित किया है और अपनेको 'श्रुतविस्मरणशील' तथा 'जडमति' लिखा है और 'आत्मोपकार' के लिए इस टीकाका लिखा जाना सूचित किया है। इससे कोई १० वर्ष बाद सन् १९१५ में अष्टसहस्रीका प्रकाशन भी बम्बईसे हुआ। वह अष्टशतीको भी हृदयगम किये हुए है और अनेक टिप्पणोको भी साथमे लिए हुए है। तभीसे वे मेरे अध्ययनका विषय बनी रही है और उनसे प्रत्येक उलझने सुलझी हैं।

मेरा प्रस्तुत अनुवाद मुख्यत अष्टसहस्रीके आधारपर अवलम्बित है, जिसके लिए मैं श्रीविद्यानन्दाचार्यका बहुत आभारी हूँ। मेरे अनुवादमें जो कुछ खूबी है उसका प्रमुख श्रेय स्वामी समन्तभद्र और उनके अनन्यभक्त उक्त आचार्य महोदयको प्राप्त है, जहाँ कही कोई त्रुटि है वहाँ मेरी अपनी ही है। मैंने सब टीका-टिप्पणोके साथ अष्टसहस्रीका दोहन कर जो मोटा नवनीत (मक्खन) निकाला है और जिसे मैंने अपने पाठकोंके लिए परम उपयोगी तथा हितकर समझा है उसीको अनुवादादिके रूपमें निबद्ध किया गया है, जो पाठक विशेष सूक्ष्म बातोंको जाननेके इच्छुक हों वे अष्टसहस्रीमे अपना सीधा सम्बन्ध स्थापित करें। मूल कारिकाओंपरसे जो अर्थ सहज फलित तथा अनुभत होता है उसे मूलानुगामी अनुवादके रूपमें ब्लैक-टाइपमें रखा गया है, उस अर्थका यथाशक्य स्पष्टीकरण डैश (—) के अनन्तर अथवा दो डैशोंके भीतर दिया गया है और जो बातें कथनका सम्बन्ध बिठलानेके लिए ऊपरसे लेनी पडी हैं गोल ब्रैकटके भीतर रखा गया है—कही-कही

किसी अर्थका दूसरा पर्याय शब्द भी ब्रैकटके भीतर रक्खा गया है। साथ ही किसी-किसी कारिकाके अर्थको और विशद करनेके लिए व्याख्याको भी अपनाया गया है। जैसे कारिका ८ की व्याख्या। ऐसी व्याख्याएँ और अधिक लिखी जाती तो अच्छा होता। परन्तु समय और शक्तिने यथावसर इजाजत नहीं दी। इससे मूलग्रन्थ और अनुवादकी सारी स्थिति-को भले प्रकार समझा जा सकता है।

यहाँ एक बात और प्रकट कर देनेकी है और वह यह कि प्रस्तुत देवागममें जिस आप्तकी मीमांसा की गई है वह आप्त वह है जो तत्त्वार्थाधिगमसूत्रकी आदिमें मङ्गलाचरणरूपसे रचित स्तुतिका विषयभूत है, जैसा कि अष्टसहस्रीका प्रारम्भ करते हुए विद्यानन्दजीके निम्न मंगल-श्लोकवाक्यसे प्रकट है —

'शास्त्रावतार-रचित-स्तुतिगोचराप्तमीमांसितं कृतिरलङ्क्रियते मयाऽस्य।'

अर्थात् तत्त्वार्थशास्त्रके अवतार समय रची गई जो स्तुति ('मोक्ष-मार्गस्य नेतारम्' इत्यादि) उसका विषयभूत जो आप्त है उस आप्तकी मीमांसाको लिए हुए समन्तभद्रकी कृति (आप्तमीमांसा) को मैं अलंकृत करता हूँ। इसी बातको विद्यानन्दने अपनी आप्तपरीक्षाके अन्तमें निम्न पद्य द्वारा और भी स्पष्ट कर दिया है :—

श्रीमत्तत्त्वार्थशास्त्राद्भुतसलिलनिधेरिद्धरत्नोद्भवस्य,
प्रोत्थानारम्भकाले सकलमलभिदे शास्त्रकारैः कृतं यत्।
स्तोत्रं तीर्थोपमानं प्रथितपृथुपथं स्वामिमीमांसितं तत्,
विद्यानन्दैः स्वशक्त्या कथमपि कथितं सत्यवाक्यार्थसिद्धयै ॥

इसमें जो कुछ दर्शाया है उसका सार इतना ही है कि तत्त्वार्थशास्त्र नामका जो अद्भुत समुद्र है उसके निर्माणके प्रारम्भकालमें मंगलाचरणके लिए जो तीर्थोपमान स्तोत्र सूत्रकारद्वारा रचा गया है उसकी स्वामी समन्तभद्रने मीमांसा की है और मैंने यह परीक्षा सत्यवाक्यार्थकी सिद्धिके लिए लिखी है।

ऊपर जिस मंगल-स्तोत्रकी चर्चा है वह पद्य इस प्रकार है —

मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम् ।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वन्दे तद्गुणलब्धये ।।

इसमें आप्तके तीन गुणोंका उल्लेख है और उन गुणोंकी प्राप्तिके लिए ही आप्तकी वन्दना की गई है। वे तीन गुण हैं मोक्षमार्गका नेतृत्व, मोहादिकर्मभूभृतोंका भेतृत्व और विश्वतत्त्वोंका ज्ञातृत्व। ये गुण आप्तमें जिस क्रमसे विकासको प्राप्त होते हैं वह है पहले मोहादिकर्मभूभृतों (पर्वतों) का भेदन होकर राग-द्वेषादि दोषोंका अभाव होना, दूसरे ज्ञानावरणादिका अभाव होकर विश्वतत्त्वोंका ज्ञाता होना और तीसरे आगमेशके रूपमें मोक्षमार्गका प्रणेता होना, जैसा कि स्वामीजीके समीचीनधर्मशास्त्र (रत्नकरण्ड) के निम्न वाक्यसे प्रकट है —

आप्तेनोत्सन्नदोषेण सर्वज्ञेनागमेशिना ।
भवितव्यं नियोगेन नान्यथा ह्याप्तता भवेत् ।।

तब उक्त मंगल-स्तोत्रमें आप्तके विशेषणोंको क्रमभंग करके क्यों रखा गया है—तृतीय विशेषणको प्रथम स्थान क्यों दिया गया है? यह एक प्रश्न पैदा होता है। इसके उत्तरमें इतना ही निवेदन है कि तत्त्वार्थसूत्रको 'मोक्षशास्त्र' भी कहते है, जगह-जगह 'मोक्षशास्त्र' नामसे उसका उल्लेख है। मोक्षशास्त्रका मंगलाचरण होनेसे ही इसमें 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' पदको प्रधानता दी गई है और यही बात विशेषणपदोंको क्रमभंग करके रखनेका कारण जान पड़ती है। तथा इस बातको स्पष्ट सूचित करती है कि यह मोक्षशास्त्रका मंगल-पद्य है।[1] अस्तु।

इस अनुवादको न्यायाचार्य पण्डित दरबारीलालजी जैन कोठियाने पूर्ण मनोयोगके साथ पढ जानेकी कृपा की है और कितना ही प्रूफरीडिंग आदि भी किया है। दो-एक जगह समुचित परामर्श भी दिया है। इस सब कृपाके लिए मैं उनका बहुत आभारी हूँ। साथ ही उन्होंने प्रस्तावना

---

१ इस मंगलाचरण-विषयका विशेष ऊहापोह न्यायाचार्य पण्डित दरबारीलालजीकी प्रस्तावना तथा उन लेखोंमें किया गया है जो अनेकान्त वर्ष ५ कि० ६-७ व कि० ११-१२ में प्रकाशित हुए हैं।

प्रस्तावना

देवागम और समन्तभद्र

१. देवागम :

(क) नाम

प्रस्तुत कृतिका नाम 'देवागम' है। प्राचीन ग्रन्थकारोने प्राय इसी नामसे इसका उल्लेख किया है। अकलङ्कदेवने इसपर अपना विवरण (अष्टशती-भाष्य) लिखनेकी प्रतिज्ञा करते हुए उसके आरम्भमें इसका यही नाम दिया है और उसे 'भगवत्स्तव' (भगवान्का स्तोत्र) कहा है।[1] विद्यानन्द ने भी 'अष्टसहस्री' (पृ० २९४) में अकलङ्कदेवके अष्टशतीगत 'स्वोक्त-परिच्छेदे' पदकी व्याख्या 'देवागमाख्ये शास्त्रे' करके इसका 'देवागम' नाम स्वीकार किया है।[2] वादिराज,[3] हस्तिमल्ल[4] आदि ग्रन्थकारोने भी अपने ग्रन्थोमें समन्तभद्रकी उल्लेखनीय कृतिके रूपमें इसका इसी नामसे निर्देश किया है। आश्चर्य नही कि जिस प्रकार 'कल्याणमन्दिर',

---

१ कृत्वा विव्रियते स्तवो भगवता देवागमस्तत्कृति'।'

—अष्टश० प्रारम्भिक पद्य २।

२ 'इति देवागमाख्ये स्वोक्तपरिच्छेदे शास्त्रे....।'

—अष्टस० पृ० २९४।

३ 'स्वामिनश्चरित तस्य कस्य नो विस्मयावहम्।
देवागमेन सर्वज्ञो येनाद्यापि प्रदर्श्यते ॥'

—पार्श्व० च०।

४ देवागमनसूत्रस्य श्रुत्या सद्दर्शनान्वित।'

—विक्रान्त कौ० प्र०।

'भक्तामर', 'एकीभाव' आदि स्तोत्र 'कल्याणमन्दिर', 'भक्तामर', 'एकीभाव', जैसे आद्य पदोंसे आरम्भ होनेके कारण वे इन नामोंसे ख्यात हैं उसी प्रकार यह स्तव भी 'देवागम' पदसे आरम्भ होनेसे 'देवागम' नामसे अधिक प्रसिद्ध रहा हो और इसीसे ग्रन्थकारों द्वारा वह इसी नामसे विशेष उल्लिखित हुआ हो। स्तवकारने[1] इसका 'आप्तमीमांसा' नाम दिया है, जिसे अकलङ्कदेवने[2] 'सर्वज्ञविशेषपरीक्षा' कहा है। विद्यानन्दने[3] अपने ग्रन्थोंमें 'देवागम' नामके अतिरिक्त इस 'आप्तमीमांसा' नामका भी उपयोग किया है। इससे मालूम पड़ता है कि यह कृति जहाँ 'देवागम' नामसे जैन साहित्यमें विश्रुत है वहाँ वह 'आप्तमीमांसा' नामसे भी। और इस तरह यह महत्त्वपूर्ण रचना दोनों नामोंसे प्रख्यात है।

(ख) परिचय

यह दश परिच्छेदोंमें विभक्त है और ये परिच्छेद विषय-विभाजनकी दृष्टिसे स्वयं ग्रन्थकारोक्त हैं।[4] ग्रन्थकारकी यह दश-संख्यक परिच्छेदोंकी कल्पना हमें आचार्य गृद्धपिच्छके तत्त्वार्थसूत्रके दश अध्यायों और महर्षि कणादके वैशेषिकसूत्रके दश अध्यायोंका स्मरण दिलाती है। अन्तर इतना ही है कि ये सूत्र-ग्रन्थ गद्यात्मक तथा सिद्धान्तशैलीमें रचित हैं और देवागम पद्यात्मक एवं दार्शनिक शैलीमें रचा गया है। उस समय दार्शनिक रचनाएँ प्रायः कारिकात्मक तथा इष्टदेवकी स्तुतिरूपमें रची जाती थीं। नागार्जुन, वसुबन्धु आदि दार्शनिकोंकी रचनाएँ इसी प्रकारकी उपलब्ध होती हैं। समन्तभद्रने भी समयकी माँगके अनुरूप अपने तीन (स्वयम्भू, युक्त्यनुशासन और देवागम) स्तोत्र दार्शनिक एवं कारिकात्मक शैलीमें रचे हैं।

---

१ 'इतीयमाप्तमीमांसा विहिता हितमिच्छताम्।'
—देवागम का० ११४।

२ अष्टश० देवागम का० ११४।

३ अष्टस० पृ० १, आप्तपरीक्षा पृ० २३३, २६२ वीरसेवामन्दिर, दरियागंज, दिल्ली।

४ 'स्वोक्तपरिच्छेदे...'—अष्टश०, देवागम का० ११४।

प्रथम परिच्छेद

इसके दस परिच्छेदोमें कुल ११४ कारिकाएँ हैं। प्रथम परिच्छेदमें १–२३ कारिकाएँ हैं। १–३ तक उन विशेषताओंका उल्लेख करके मीमासा की गई है जिनसे आप्त माननेकी बात कही जाती है। ४र्थीमें ऐसे व्यक्ति-विशेषकी सम्भावना की है जो निर्दोष हो सकता है। ५वीमें ऐसे हेतुसे सामान्य आप्त (सर्वज्ञ) का सस्थापन (अनुमान) किया है जो साध्यका अविनाभावी तथा निर्दोष है। ६ठीमें वह सामान्य आप्तत्व युक्ति-पूर्वक अर्हत्‌में पर्यवसित किया गया है और कहा गया है कि चूँकि उनका शासन (तत्त्वप्ररूपण) प्रमाणाविरुद्ध है, अत वही आप्त प्रमाणित होते हैं। ७वीमें वर्णित है कि जो एकान्त तत्त्वके प्ररूपक है उनका वह एकान्त प्ररूपण प्रत्यक्ष-विरुद्ध है। ८वीमें यह बताया गया है कि एकान्तवादियोंका वह तत्त्व-प्ररूपण प्रत्यक्ष-विरुद्ध कैसे है। यत एकान्तवादी स्वपरवैरी है, अत उनका पुण्य-पापादि प्ररूपण उनके यहाँ सम्भव नही है। ९–११ तक तीन कारिकाओ द्वारा वस्तुको सर्वथा भाव (विधि) रूप स्वीकार करनेपर प्रागभाव आदि चारो अभावोंके अपह्नवका दोष दिया गया है। बताया गया है कि प्रागभावका अपलाप करने पर किसीका उत्पाद नही हो सकेगा—अर्थात् कार्य अनादि हो जायेगा, प्रध्वसाभावके न रहनेपर किसीका नाश नही होगा—अर्थात् कार्यद्रव्य अनन्त हो जायेगा, अन्यो-न्याभावके निषेध करनेपर 'यह अमुक है, अमुक नही' ऐसा निर्धारण नही हो सकेगा—अर्थात् सब सबरूप हो जायेगा। और अत्यन्ताभावके लोप हो जानेपर वस्तुका अपना प्रतिनियत स्वरूप न रहेगा। इस तरह सारी वस्तुव्यवस्था चौपट (समाप्त) हो जायगी।

कारिका १२ द्वारा उन्हें दोष दिया गया है जो वस्तुको सर्वथा अभाव (शून्य) रूप मानते हैं। कहा गया है कि अभावरूप वस्तु स्वीकार करने-पर उसे स्वय जाननेके लिए बोध (ज्ञान) और दूसरोको जनाने—बतानेके लिए वचनरूप साधन-प्रमाणो तथा अनभिमत भावरूप वस्तुको स्वय दोषपूर्ण जानने और दूसरोको दोषपूर्ण बतानेके लिए उक्त दोनो

(बोध और वचनरूप) दूपण-प्रमाणोको स्वीकार करना आवश्यक है, जो सर्वथा अभाववादमें सम्भव नही, क्योकि वे दोनों भावरूप हैं ।

१३ में सर्वथा भाव और सर्वथा अभाव दोनोरूप वस्तुको माननेपर विरोध तथा उसे सर्वथा अवाच्य (अनिर्वचनीय) स्वीकार करनेपर उसका 'अवाच्य' शब्दसे भी कथन न कर सकनेका दोप दिखाया गया है ।

१४–२२ तक ९ कारिकाओ द्वारा स्याद्वादनय (अपेक्षावाद) से वस्तुको अनेकान्तात्मक अर्थात् भाव (विधि) और अभाव (निपेध) रूप विरोधी युगलको लेकर उसे सप्तभङ्गात्मक (सप्तधर्मरूप) सिद्ध किया है । २३वी कारिका द्वारा एक-अनेक, नित्य-अनित्य आदि विरोधी युगलोको लेकर भी वस्तुमें सप्तभगी (सप्तभङ्गात्मकता) की योजना करनेकी सूचना की गई है ।

इस तरह इस प्रथम परिच्छेदमें भाव और अभावके सम्बन्धमें उन एकान्त मान्यताओकी मीमासा की गई है जो ग्रन्थकारके समयमें चर्चित एव बद्धमूल थी । साथ ही उनका नय-विवक्षासे समन्वय करके उनमें सप्तभङ्गी-अनेकान्तकी स्थापना की है ।

द्वितीय परिच्छेद

द्वितीय परिच्छेदमें २४–३६ तक १३ कारिकाएँ हैं । २४–२७ तक चार कारिकाओ द्वारा अद्वैतैकान्त (सर्वथा एकवाद) की समीक्षा की गई है और कहा गया है कि वस्तुको सर्वथा एक माननेपर क्रिया-भेद, कारक-भेद, पुण्य-पापरूप कर्मद्वैत, सुख-दुःखरूप फलद्वैत, इहलोक-परलोकरूप लोकद्वैत, विद्या-अविद्यारूप ज्ञानद्वैत और बन्ध-मोक्षरूप जीवकी शुद्धाशुद्ध दो अवस्थाएँ ये सब अद्वैतमें सम्भव नही हैं । इसके सिवाय हेतुसे अद्वैतकी सिद्धि करनेपर साधन और साध्यका द्वैत स्वीकार करना आवश्यक ही नही, अनिवार्य है । यदि विना हेतुके ही अद्वैत माना जाय, तो द्वैतको भी विना हेतुके मान लेना चाहिए । इसके अतिरिक्त अद्वैतवादमें यह भी विचारणीय है कि 'अद्वैत' पदमें जो 'द्वैत' शब्द पडा हुआ है उसका वाच्य द्वैत है या नही ? क्योकि नामवाली वस्तुका

निषेध उसके अस्तित्वको स्वीकार किये बिना नहीं हो सकता और द्वैतको स्वीकार करनेपर सर्वथा अद्वैतकी मान्यता समाप्त हो जाती है। यथार्थमें अद्वैत द्वैतका निषेध है और द्वैत वस्तुभूत अद्वैतैकान्तमें स्वीकृत न होनेसे उनका निषेधरूप सर्वथा अद्वैत कैसे माना जा सकता है?

कारिका २८ के द्वारा सर्वथा द्वैत (अनेक) वादी वैशेषिकोंके अनेकवादकी आलोचना करते हुए प्रतिपादन किया गया है कि जिस पृथक्त्व गुणसे द्रव्यादि पदार्थोंको पृथक् (अनेक) कहा जाता है वह उनसे अपृथक् है या पृथक्? उसे उनसे अपृथक् तो कहा नहीं जा सकता, क्योंकि वैसा उनका सिद्धान्त नहीं है। यदि उसे उनसे पृथक् कहा जाय तो वह पृथक्त्व गुण अपनी सत्ता कायम नहीं रख सकता, क्योंकि वह अनेकोंमें रहकर ही अपने अस्तित्वको स्थिर रखता है। इस प्रकार वैशेषिकोंके अनेकवादकी मान्यताका आधार-स्तम्भ (पृथक्त्वगुण) जब ढह जाता है तो उसपर आधारित अनेकवादका प्रसाद भी धराशायी हो जाता है।

बौद्ध भी अनेकवादी हैं। पर उनका अनेकवाद वैशेषिकोंके अनेकवादसे भिन्न है। वे अन्वयरूप एकत्व न मानकर सर्वथा पृथक्-पृथक् अनेक विसदृश क्षणोंको ही वस्तु स्वीकार करते हैं। उनकी इस मान्यताकी भी २९–३१ तक तीन कारिकाओं द्वारा समीक्षा की गई है। कहा गया है कि मालाके दानोंमें सूतकी तरह क्षणोंमें अन्वयरूप एकत्व न माननेपर उनमें सन्तान, सादृश्य, समुदाय और प्रेत्यभाव आदि नहीं बन सकते, क्योंकि क्षणोंका एक-दूसरेसे एकत्वरूप सम्बन्ध नहीं है। इसके अतिरिक्त ज्ञान और ज्ञेय इन दोनोंको 'सत्' की अपेक्षासे भी भिन्न माननेपर दोनो ही असत् हो जावेंगे। और उस हालतमें न ज्ञानकी स्थिति रहेगी और न बाह्य तथा अन्तस्तत्त्वरूप आभ्यन्तर ज्ञेय ही बन सकेगा। वचनोंमे भी उनकी स्थिति नहीं रोपी जा सकती है, क्योंकि वचन सामान्य (अन्यापोह) मात्रको कहते हैं, जो अवस्तु है, विशेष (स्वलक्षात्मक वस्तु) को नहीं और ऐसी दशामें समस्त वचन यथार्थत वस्तुके वाचक न होनेसे मिथ्या (असत्य) ही है।

कारिका ३२ के द्वारा वस्तुको सर्वथा एक और सर्वथा अनेक दोनों (उभय) रूप अङ्गीकार करनेपर विरोध तथा अवाच्य (अनुभय)

स्वीकार करनेपर 'अवाच्य' शब्द द्वारा भी उनका निर्वचन न हो सकनेका दोष प्रदर्शित किया गया है।

३३–३६ तक ४ कारिकाओ द्वारा स्याद्वादनय (कथञ्चिद्वाद) से एक और अनेकके विरोधी युगलकी अपेक्षासे सप्तभङ्गीकी योजना करके वस्तुमें कथंचित् एक और कथंचित अनेकसे अनेकान्तकी स्थापना की गई है।

इस प्रकार दूसरे परिच्छेदमें एक (अद्वैत) और अनेक (द्वैत) के बारेमें रूढ एकान्त धारणाओंकी समालोचना करके इस युगलकी अपेक्षा वस्तुको सप्तभङ्गात्मक (अनेकान्तरूप) सिद्ध किया गया है।

तृतीय परिच्छेद

तृतीय परिच्छेदमें ३७–६० तक २४ कारिकाएँ हैं। ३७–४० तक चार कारिकाओ द्वारा सांख्यदर्शनके एकान्त नित्यवादकी आलोचनासे कहा गया है कि प्रधान एवं पुरुषको सर्वथा नित्य स्वीकार करने पर उनमें किसी भी प्रकारके विकारकी सम्भावना नही है क्योंकि उत्पत्तिसे पूर्व न किसीको कारक कहा जा सकता है और न ज्ञप्तिसे पूर्व किसीको प्रमाण कह सकते हैं। अकारकस्वभाव छोडकर कारक-स्वभाव ग्रहण करने रूप उत्पत्ति होनेके बाद कारक और अज्ञापकस्वभाव छोडकर ज्ञापकस्वभाव ग्रहण करनेरूप ज्ञप्ति होनेके अनन्तर ज्ञापक (प्रमाण) व्यवहार होता है। एकरूप रहनेके कारण एकान्त नित्य (प्रधान व पुरुष) से किसीकी उत्पत्ति अथवा ज्ञप्ति आदिरूप कोई भी क्रिया सम्भव नही है और इसलिए उसे न कारक कहा जा सकता है और न प्रमाण। इन्द्रियोसे जैसे घटादि अर्थकी अभिव्यक्ति होती है वैसे ही प्रधानरूप कारक या प्रमाणसे महदादिकी अभिव्यक्ति होती है, इस प्रकारकी मान्यता भी युक्त नही है, क्योंकि प्रमाण तथा कारक दोनोरूप प्रधान सर्वथा नित्य होनेसे उनका अभिव्यक्तिके लिए भी व्यापार सम्भव नही है। अन्यथा अभिव्यक्तिसे पूर्व रहनेवाले अनभिव्यञ्जक स्वभावको छोडने तथा व्यञ्जक स्वभावको ग्रहण करनेरूप अवस्थान्तरको प्राप्त करनेसे उसे अनित्य मानना पडेगा। अत महदादि प्रधानसे अभिव्यंग्य (विकार्य)

भी नहीं हो सकते। इसी तरह एकान्त नित्य पक्षमें पुरुषकी तरह सत्कार्यकी न उत्पत्ति सम्भव है और न अभिव्यक्ति, क्योंकि सदा विद्यमान रहनेसे उसमें किसी भी तरहका परिणमन (परिवर्तन), चाहे वह उत्पत्तिरूप हो और चाहे अभिव्यक्तिरूप, नहीं बन सकता है। पुण्य, पाप, प्रेत्यभाव (पर्यायान्तर), बन्ध और मोक्ष ये सब परिणाम भी एकान्त नित्य (अपरिणामी पुरुषवाद) में असम्भव हैं। नित्य जब सदा एकरूप (कूटस्थ) रहेगा तो उसमें कोई विकृति नहीं हो सकती। तथा बिना विकृतिके पुण्यपापादि, जो भिन्न कालोंमें होनेवाली अवस्थाविशेष हैं, कैसे सम्भव हैं, यह विचारणीय है।

४१–५४ तक चउदह कारिकाओं द्वारा एकान्त अनित्यपक्ष (क्षणिकवाद) में दोष दिये गये हैं। कहा गया है कि वस्तुको सर्वथा अनित्य (क्षणिक) स्वीकार करनेपर भी उक्त प्रेत्यभावादि नहीं बन सकते, क्योंकि पूर्वापर क्षणोंमें परस्पर अन्वय (ध्रौव्यात्मक बन्धन-कड़ी) न होनेके कारण प्रत्यभिज्ञा, स्मरण, अनुभव, अभिलाषा आदि ज्ञानधारा प्रवाहित नहीं हो सकती। ऐसी दशामें न पूर्व क्षणको कारण और न उत्तर क्षणको कार्य कहा जा सकता है। सर्वथा क्षणिकवादमें न असत्कार्यकी उत्पत्ति, न कार्यकारणभाव, न हिंस्यहिंसकभाव, न गुरुशिष्यभाव, न पतिपत्नीभाव, न मातृपुत्रभाव, न बद्धमुक्तभाव और न स्कन्धसन्ततियाँ ही बन सकती हैं।

५५ के द्वारा सर्वथा नित्य और सर्वथा अनित्य दोनों (उभयैकान्त) के स्वीकारमें विरोध और न सर्वथा नित्य तथा न सर्वथा अनित्य दोनोंके निषेधरूप (अनुभयैकान्त) में 'अवाच्य' शब्दसे उसका कथन न कर सकनेका दोष प्रदर्शित किया गया है।

५६–६० तक ५ कारिकाओं द्वारा स्याद्वादनयसे वस्तुको कथञ्चित् नित्य, कथञ्चित् अनित्य, कथञ्चित् उभय, कथञ्चित् अनुभय आदि सप्तभङ्गात्मक अनेकान्त सिद्ध किया है। इस प्रकार इस परिच्छेदमें नित्यानित्यके विरोधी युगलकी अपेक्षा पूर्ववत् सप्तभङ्गी दिखायी गई है। उल्लेखनीय है कि दो महत्त्वपूर्ण दृष्टान्तों (लौकिक एवं लोकोत्तर)

द्वारा भी वस्तुमें नित्यता (ध्रौव्य) और अनित्यता (उत्पाद-व्यय) दोनोंको प्रतीतिसिद्ध बतलाया गया है।

चतुर्थ परिच्छेद

चौथे परिच्छेदमें ६१–७२ तक १२ कारिकाएँ हैं, जिनके द्वारा भेद और अभेदका विचार किया गया है। ६१–६६ तक ६ कारिकाओंमें भेद (अन्यता) वादी वैशेषिकोंकी एकान्त भेद-मान्यताकी समीक्षा की गई है। कहा गया है कि यदि कार्य और कारणमें, गुण और गुणीमें तथा सामान्य और सामान्यवानमें (द्रव्य-गुण-कर्ममें) सर्वथा अन्यत्व (भेद) माना जाय तो एक (कार्य—अवयवी आदि) का अनेकों (कारणों—अवयवों आदि) में रहना (वृत्ति) सम्भव नहीं है, क्योंकि प्रश्न उठता है कि वह एक अनेकोंमें प्रत्येकमें अंशरूपसे रहता है या सम्पूर्णरूपसे? प्रथम पक्ष तो ठीक नहीं, कारण कि उस एकके अंशोंको नहीं माना है—उसे निरंश स्वीकार किया गया है। द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि जितने कारण (अवयव) होंगे उतने ही कार्य (अवयवी) मानना पड़ेंगे। यदि उस एक (अवयवी) में अंश-कल्पना करें, जो यथार्थमें स्वकीय सिद्धान्त-विरुद्ध है, तो फिर उसे एक कैसे कहा जा सकता है—उसे नाना (अनेक) ही प्रतिपादन करना चाहिए। इस तरह सर्वथा भेदवादमें यह वृत्ति-दोष अनिवार्य है—जिसे दूर नहीं किया जा सकता है। इसी प्रकार इस भेद-वादमें सामान्य व समवाय-सम्बन्धकी, जिन्हें नित्य पदार्थ स्वीकार किया है, अपने आश्रयोंमें वृत्ति नहीं बनती। कारण यह है कि जिन नाशशील एवं उत्पादशील व्यक्तियों (घट-पट-गौ आदि) में उन दोनोंकी स्थिति स्वीकार की गई है उनके नाश या उत्पाद होनेपर उन दोनोंका न नाश होता है और न उत्पाद। ऐसी स्थितिमें आश्रयके बिना आश्रयी (सामान्य तथा समवाय) कहाँ और कैसे रहेंगे? जब कि उन्हें प्रत्येक व्यक्तिमें सम्पूर्ण रूपसे रहनेवाला तथा नित्य और निष्क्रिय माना गया है। निष्क्रिय होनेसे वे नाशशील व्यक्तिके नाश और उत्पादशील व्यक्तिके उत्पादके समय अन्यत्र (दूसरे व्यक्तियोंमें) जा नहीं सकते तथा नित्य होनेसे वे व्यक्तिके साथ न नष्ट हो सकते हैं और न उत्पन्न। अतः

उनका विधान 'दुविधामें दोनों गये माया मिली न राम' कहावतको चरितार्थ करता है। अर्थात् सामान्य और समवाय दोनोकी स्थिति भेदवाद-में डवाँडोल है। इसके अतिरिक्त सामान्य और समवायमें परस्पर सम्बन्ध सम्भव न होनेसे उनसे द्रव्य, गुण और कर्मका भी सम्बन्ध सम्भव नही है। सामान्य और समवायमें परस्पर सम्बन्ध क्यो सम्भव नही है ? इसका कारण यह है कि वे द्रव्य न होनेसे उनमें सयोगसम्बन्ध तो स्वय वैशेषिकोको भी इष्ट नही है। समवाय भी उनमें सम्भव नही है, क्योंकि उन्हें अवयव-अवयवी, गुण-गुणी आदि रूपमें स्वीकृत नही किया गया। 'सामान्य समवायि'—सामान्य समवायवाला है, इस प्रकारसे उनमें विशेषण-विशेष्य सम्बन्धकी भी सम्भावना नही है, क्योंकि एक समवायके सिवाय अन्य समवायान्तर वैशेषिकोंने नही माना। अन्यथा अनवस्था दोषसे वह मुक्त नही हो सकता है। हाँ, उनमे एकार्थसमवायकी कल्पना की जा सकती थी, पर वह भी नही की जा सकती, क्योंकि घटत्वादि सामान्य घटादिमें समवायसे रह जानेपर भी समवाय उनमें समवेत नही है। स्पष्ट है कि वैशेषिकोंने समवायके रहनेके लिए अन्य समवाय नही स्वीकार किया—एक ही समवाय उन्होंने माना है। इस तरह जब सामान्य और समवाय दोनोमें परस्पर सम्बन्ध सम्भव नही है तो ये असम्बद्ध रहकर द्रव्यादिमे सम्बन्धित नही हो सकते। फलत तीनों (सामान्य, समवाय और द्रव्यादि) बिना सम्बन्धके खपुष्प तुल्य ठहरते हैं।

वैशेषिकोमें कोई परमाणुओमें पाक (अग्निसयोग) होकर द्वचणुकादि अवयवीमें क्रमश पाक मानते है और कोई परमाणुओंमें किसी भी प्रकारकी विकृति न होनेसे उनमें पाक (अग्निसयोग) न मानकर केवल द्वचणुकादि (अवयवी) में पाक स्वीकार करते हैं। जो परमाणुओमें पाक नही मानते उनका कहना है कि परमाणु नित्य (अप्रच्युत-अनुत्पन्न-स्थिरैकरूप) हैं और इसलिये वे द्वचणुकादि सभी अवस्थाओमें एकरूप बने रहते हैं—उनमें किसी भी प्रकारकी अन्यता (भिन्नरूपतारूप परिणति) नही होती उनमें सर्वदा अनन्यता (एकरूपता) विद्यमान रहती है। इसी (किन्ही वैशेषिकोंकी) मान्यताको आ० समन्तभद्रने 'अणुओंका अनन्यतैकान्त'

७१–७२ द्वारा उन अवयव-अवयवी, गुण-गुणी आदिमें कथञ्चित् भेद, कथञ्चित् अभेद आदि सप्तभङ्गी-प्रक्रियाकी योजना करके उनमें अनेकान्त सिद्ध किया है और यह दिखाया है कि किस तरह उनमें अभेद (एकत्व) है और किस तरह उनमें भेद (नानात्व) आदि है ।

इस प्रकार इस परिच्छेदमें भेद और अभेदको लेकर विभिन्न वादियो द्वारा मान्य भेदैकान्त, अभेदैकान्त आदि एकान्तोंकी आलोचना और स्याद्वादनयसे उनमें अनेकान्तकी व्यवस्था की गई है ।

पञ्चम परिच्छेद

इस परिच्छेद में ७३–७५ तक तीन कारिकाओ द्वारा उन वादियो-की मीमासा करते हुए जैन दृष्टि प्रस्तुत की गई है जो सर्वथा अपेक्षासे या सर्वथा अनपेक्षा आदिसे वस्तुस्वरूपको सिद्ध मानते हैं । कारिका ७३ में कहा गया है कि यदि धर्म और धर्मीकी, विशेषण और विशेष्यकी, कार्य और कारणकी तथा प्रमाण और प्रमेय आदिकी सिद्धि सर्वथा अपेक्षासे मानी जाय तो उनकी कभी भी व्यवस्था नही हो सकती, क्योकि वे उसी प्रकार अन्योन्याश्रित रहेंगे जिस प्रकार किसी नदीमें डूबते हुए दो तैराक एक दूसरेके आश्रय होते हैं और फलत दोनों ही डूब जाते है । यदि उनकी सिद्धि सर्वथा अनपेक्षासे (स्वत) ही स्वीकार की जाय तो अमुक कार्य-कारण हैं, अमुक धर्म-धर्मी है, अमुक विशेषण-विशेष्य है, अमुक प्रमाण-प्रमेय हैं और अमुक सामान्य-विशेष हैं, इस प्रकारका व्यवहार नही बन सकेगा, क्योकि ये सब व्यवहार परस्परकी अपेक्षासे होते हैं ।

कारिका ७४ में सर्वथा उभयवादियोके उभयैकान्तमें विरोध और सर्वथा अनुभयवादियोंके अनुभयैकान्तमें 'अनुभय' शब्द द्वारा भी कथन न हो सकनेका दोष दिया गया है ।

७५ द्वारा स्याद्वादनयसे वस्तुस्वरूपकी सिद्धि प्रदर्शित की गई है । कहा गया है कि धर्मधर्मिभाव, कार्यकारणभाव, विशेषणविशेष्यभाव और प्रमाणप्रमेयभावका व्यवहार तो अपेक्षासे सिद्ध होता है । परन्तु उनका स्वरूप स्वत सिद्ध है । यथार्थमें कार्यमें कार्यता, कारणमें कारणता, प्रमाणमें प्रमाणता, प्रमेयमें प्रमेयता आदि स्वय सिद्ध है वह परापेक्ष नही

है । अन्यथा किमी भी वस्तुका अपना स्वतंत्र स्वरूप नही वन सकेगा। जैसे कर्ताका स्वरूप कर्मापेक्ष और कर्मका स्वरूप कर्त्रपेक्ष नही है तथा वोधकका स्वरूप वोध्यापेक्ष और वोध्यका स्वरूप वोधकापेक्ष नही है। पर उनका व्यवहार अवश्य परस्पर-सापेक्ष है। उसी प्रकार धर्मधर्मी आदिका स्वरूप तो स्वय सिद्ध है किन्तु उनका व्यवहार परस्पर सापेक्ष होता है। इस तरह इस परिच्छेदमें अपेक्षा और अनपेक्षाके विरोधी युगलमें भी सप्तभङ्गीकी योजना करके अनेकान्तकी व्यवस्था की गई है।

षष्ठ परिच्छेद

षष्ठ परिच्छेदमें ७६–७८ तक तीन कारिकाओं द्वारा हेतुवाद और अहेतुवादकी एकान्त मान्यताओंमें दोषोद्घाटन करते हुए उनमें सप्तभङ्गी-योजनापूर्वक समन्वय (अनेकान्तस्थापन) किया गया है।

कारिका ७६ में सर्वथा हेतुवादसे वस्तुसिद्धि मानने पर प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे वस्तुज्ञानके अभावका प्रसङ्ग तथा आगमसे सर्वसिद्धि स्वीकार करनेपर परस्पर विरुद्ध सिद्धान्तोंके प्रतिपादक वचनोंसे भी विरोधी तत्त्वोंकी सिद्धिका प्रसङ्ग दिया गया है।

कारिका ७७ में पूर्ववत् उभयैकान्तमें विरोध और आवाच्यतैकान्तमें 'अवाच्य' शब्दद्वारा भी उसका निर्वचन न कर सकनेका दोष प्रदर्शित है।

इस परिच्छेदकी अन्तिम ७८ वी कारिकामें हेतुवाद और अहेतुवाद दोनोंसे वस्तुसिद्धि होनेका निर्देश करते हुए सप्तभङ्गात्मक अनेकान्त प्रदर्शित किया गया है। कहा गया है कि जहाँ आप्त वक्ता न हो वहाँ हेतुसे साध्यकी सिद्धि की जाती है और उस सिद्धिको हेतु-साधित कहा जाता है तथा जहाँ आप्त वक्ता हो वहाँ उसके वचनसे वस्तुकी सिद्धि होती है और वह सिद्धि आगम-साधित कही जाती है। इस प्रकार वस्तु-सिद्धिका अङ्ग उपायतत्त्व (हेतुवाद और अहेतुवाद) भी अनेकान्तात्मक है।

सप्तम परिच्छेद

इस परिच्छेदमें ७९–८७ तक ९ कारिकाएँ हैं, जिनके द्वारा ज्ञानैकान्त और वाह्यार्थैकान्त आदि एक-एक एकान्तोंके स्वीकार करनेमें आनेवाले दोषोंको दिखलाते हुए निर्दोष अनेकान्तकी स्थापना की गई है।

कारिका ७९ के द्वारा बतलाया गया है कि यदि सर्वथा ज्ञानतत्त्व ही हो, बाह्य अर्थ न हो तो सभी बुद्धियाँ और सभी वचन मिथ्या हो जायेंगे, क्योंकि दोनोका प्रामाण्य बाह्य अर्थपर निर्भर है। जिनका ज्ञात बाह्यार्थ सत्य निकलता है उन्हें प्रमाण और जिनका सत्य नही निकलता उन्हें प्रमाणाभास कहा जाता है। परन्तु ज्ञानैकान्तवादमें बाह्यार्थको स्वीकार न करनेके कारण किसी भी बुद्धि और किसी भी वचनकी प्रमाणताका निश्चय नही हो सकता और इसलिये उन्हें मिथ्या ही कहा जावेगा और जब वे मिथ्या है तो वे प्रमाणाभासकी कोटिमें प्रविष्ट हैं। किन्तु बिना प्रमाणके उन्हें प्रमाणाभास भी कैसे कहा जा सकता है। तात्पर्य यह कि सर्वथा ज्ञानतत्त्वके ही स्वीकार करनेपर प्रमाण और प्रमाणाभास दोनो ही नही बनते और उनके न बननेपर किस तरह ज्ञानमात्रको वास्तविक और बाह्यार्थको अवास्तविक सिद्ध किया जा सकता है।

८० के द्वारा साध्य और साधनकी विज्ञप्तिसे विज्ञप्तिमात्रतत्त्वकी सिद्धिके प्रयासको भी निरर्थक बतलाया गया है, क्योंकि उक्त प्रकारसे सिद्धि करने पर प्रतिज्ञादोष और हेतुदोष आते हैं। स्पष्ट है कि विज्ञप्ति-मात्रतत्त्वको मानने वालोके यहाँ न साध्य है और न हेतु। अन्यथा द्वैत-का प्रसङ्ग आयेगा।

८१ के द्वारा उन्हें दोष दिया गया है जो केवल बाह्यार्थ स्वीकार करते हैं, अन्तरङ्गार्थ (ज्ञान) को नही मानते। कहा गया है कि यदि सर्वथा बाह्यार्थ ही हो, ज्ञान न हो, तो न संशय होगा, न विपर्यय और न अनध्यवसाय। इतना ही नही, सत्यासत्यका निर्णय भी नही किया जा सकेगा। फलत जो विरोधी अर्थका प्रतिपादन करते हैं उनके भी मोक्षादि कार्योंकी सिद्धि हो जायगी। इसके अतिरिक्त स्वप्नबुद्धियोका स्वार्थके साथ सम्बन्ध न होनेसे उन्हें असवादी नही कहा जा सकेगा।

कारिका ८२ के द्वारा सर्वथा उभयवादमें विरोध और सर्वथा अनुभय-वादमें 'अनुभय' शब्दसे भी उसका कथन न हो सकनेका दोष पूर्ववत् दिखाया गया है।

कारिका ८३ द्वारा स्याद्वादसे वस्तुव्यवस्था करनेपर कोई दोष नही आता, यह दिखलाते हुए कहा गया है कि स्वरूपसवेदनकी अपेक्षा कोई

ज्ञान प्रमाणाभास नहीं है। पर बाह्य प्रमेयकी अपेक्षा प्रमाण और प्रमाणाभास दोनों हैं। जिस ज्ञानका बाह्य प्रमेय ज्ञात होनेके बाद वहीं उपलब्ध होता है वह प्रमाण है तथा जिसका बाह्य प्रमेय ज्ञात होनेके बाद वहीं उपलब्ध नहीं होता अपितु अन्य मिलता है वह प्रमाणाभास है। इस तरह स्वरूपसंवेदनकी अपेक्षा सभी ज्ञान प्रमाण हैं, कोई प्रमाणाभास नहीं हैं। किन्तु बाह्य प्रमेयकी सत्यतासे प्रमाण और असत्यतासे प्रमाणाभास हैं। अतः प्रमाण और प्रमाणाभासकी व्यवस्था अन्तरङ्गार्थ (ज्ञान) और बाह्यार्थ दोनोंको स्वीकार करनेसे होती है, किसी एकसे नहीं। यही अनेकान्तरूप वस्तुतत्त्व है जिसकी स्याद्वादसे उक्त प्रकार व्यवस्था होती है।

कारिका ८४ के द्वारा उन (बौद्धों) का समाधान किया गया है जो बाह्यार्थ नहीं मानते, केवल उसकी शाब्दिक (काल्पनिक) प्रतीति स्वीकार करते हैं। उनके लिए कहा गया है कि कोई भी शब्द क्यों न हो, उसका वाच्य बाह्यार्थ अवश्य होता है। उदाहरणार्थ जीवशब्दको ही लीजिए, उसका वाच्य बाह्यार्थ अवश्य है क्योंकि वह एक संज्ञा है। जो संज्ञा होती है उसका वाच्य बाह्यार्थ अवश्य होता है, जैसे हेतुशब्द अपने वाच्य हेतुरूप बाह्यार्थको लिए हुए है। यह भी उल्लेखनीय है कि जीवशब्दका प्रयोग शरीरमें या इन्द्रियों आदिके समूहमें नहीं होता, क्योंकि ऐसी लोकरूढि नहीं है। 'जीव गया, जीव मौजूद है' इस प्रकारका जिसमें व्यवहार होता है उसीमें यह लोकरूढि नियत है। कोई भी व्यक्ति यह व्यवहार न शरीरमें करता है, क्योंकि वह अचेतन है, न इन्द्रियोंमें करता है, क्योंकि वे मात्र उपभोगकी साधन हैं और न शब्दादि विषयोंमें करता है क्योंकि वे भोग्य रूपसे व्यहृत होते हैं। वह तो भोक्ता आत्मामें 'जीव' यह व्यवहार करता है। अतः 'जीव' शब्द जीवरूप बाह्यार्थ सहित है। माया, अविद्या, अप्रमा आदि जो भ्रान्तिसूचक संज्ञायें हैं वे भी माया, अविद्या, अप्रमा आदि अपने भावात्मक अर्थोंसे सहित हैं। जैसे प्रमासंज्ञा अपने प्रमारूप अर्थसे सहित है। इन संज्ञाओंको मात्र वक्ताके अभिप्रायकी सूचिका भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि श्रोताओंकी जो उन संज्ञाओं (नामों) को सुनकर उस-उस अर्थक्रियामें प्रवृत्तिका नियम देखा जाता है वह अभिप्रा-

में सम्भव नहीं है। अत संज्ञाओं (शब्दों) को अभिप्रायका सूचक नहीं मानना चाहिए, किन्तु उन्हें सत्यार्थ (बाह्यार्थ) का सूचक स्वीकार करना चाहिए।

अगली ८५-८७ तक तीन कारिकाओंके द्वारा ग्रन्थकार अपने उक्त कथनका सबल समर्थन करते हुए प्रतिपादन करते हैं कि प्रत्येक वस्तुकी तीन संज्ञायें होती हैं। बुद्धिसंज्ञा, शब्दसंज्ञा और अर्थसंज्ञा। तथा ये तीनों संज्ञायें बुद्धि, शब्द और अर्थ इन तीनकी क्रमश वाचिका है और तीनोंमे श्रोताको उनके प्रतिविम्बात्मक बुद्धि, शब्द और अर्थरूप तीन बोध होते हैं। अत 'जीव' यह शब्द केवल जीवबुद्धि या जीवशब्दका वाचक न होकर जीवअर्थ, जीवशब्द और जीवबुद्धि इन तीनोंका वाचक है। वास्तवमें उनके प्रतिविम्बात्मक तीन बोध होनेसे उन तीनों संज्ञाओंके वाच्यार्थ तीन हैं, यह ध्यान देनेपर स्पष्ट हो जाता है। तात्पर्य यह कि प्रत्येक पदार्थ तीन प्रकारका है—बुद्धयात्मक, शब्दात्मक और अर्थात्मक। और तीनोंकी वाचिका तीन संज्ञायें हैं, जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है और इस तरह समस्त संज्ञायें (शब्द) अपने अर्थ सहित हैं।

यद्यपि विज्ञानवादीके लिए ऊपर कहा गया हेतु (संज्ञा होनेसे) असिद्ध है, क्योंकि उसके यहा विज्ञानके अलावा संज्ञा (शब्द) नहीं है। उसके लिए ग्रन्थकार कहते हैं कि जब हम कुछ कहते या सुनते या जानते हैं तो हम वक्ता, श्रोता या प्रमाता कहे जाते हैं और ये तीनों भिन्न-भिन्न हैं, एक नहीं हैं। तथा इन तीनोंके तीन कार्य भी अलग-अलग होते हैं। वक्ता अभिधेयका ज्ञान करके वाक्य बोलता है, श्रोता उसको श्रवण कर उसका बोध करता है और प्रमाता शब्द और अर्थरूप प्रमेयकी परिच्छित्ति (प्रमा) करता है। ये तीनों ही उन तीनोंके बिलकुल जुदे-जुदे कार्य हैं। विज्ञानवादी इन अनुभवसिद्ध पदार्थोंका अपह्नव करनेका साहस कैसे कर सकता है। ऐसी दशामें वह हेतुको असिद्धादि दोषोंसे युक्त नहीं कह सकता। यदि वह इन अनुभवसिद्ध पदार्थों (अभिधेय, अभिधेयके ग्राहक वक्ता और श्रोता) को विभ्रम कहे तो उसका विज्ञानवाद और साधक प्रमाण भी विभ्रम कोटिमें आनेसे कैसे बच सकते हैं।

और प्रमाणके विभ्रम होनेपर उसे जो इष्ट अन्तर्ज्ञेय (ज्ञान) है वह और जो उमे इष्ट नही है ऐसा वहिर्ज्ञेय दोनो ही, जिन्हे तादृश (प्रमाणरूप) और इतर—अन्यादृश (अप्रमाणरूप) माना जाता है, विभ्रम ही सिद्ध होगे। ऐसी हालतमें सर्वथा विज्ञानवादमें हेयोपादेयका तत्त्वज्ञान कैसे हो सकता है ?

यदि प्रमाणको अभ्रान्त कहें तो उसके लिए वाह्यार्थका स्वीकार आवश्यक है। उसके विना प्रमाण और प्रमाणाभासकी व्यवस्था सम्भव नही है, क्योकि उन्ही ज्ञानो तथा शब्दोमें प्रमाणता होती है जिनका वाह्यार्थ होता है और जिनका वाह्यार्थ नही होता उन्हे प्रमाणाभास माना जाता है। यथार्थमें जिस बुद्धिका ज्ञात अर्थ प्राप्त होता है उसे सत्य और जिसका ज्ञात अर्थ प्राप्त नही होता उसे असत्य कहा जाता है। इसी प्रकार जिस शब्दका अभिहित अर्थ मिलता है वह सत्य और जिसका अभिहित अर्थ नही मिलता उसे असत्य माना जाता है। इस प्रकार वाह्यार्थके सद्भाव और असद्भावमें ही बुद्धि और शब्द प्रमाण एव प्रमाणाभास कहे जाते हैं। सर्वथा ज्ञानैकान्तमें यह प्रमाण और प्रमाणाभासकी व्यवस्था सम्भव नही है। अत उक्त प्रकारसे वाह्यार्थ अवश्य सिद्ध होता है और उसके सिद्ध हो जानेपर वक्ता आदि तीन और उनके बोधादि तीन भी सिद्ध हो जाते है। अतएव उक्त 'सज्ञात्व' हेतु असिद्धादि दोष युक्त नही है।

इस प्रकार इस परिच्छेदमें ज्ञापकोपायतत्त्वमें भी सप्तभङ्गीकी योजना करके उसे स्याद्वादनयसे अनेकान्तात्मक सिद्ध किया गया है।

अष्टम परिच्छेद

इस परिच्छेदमें ८८-९१ तक चार कारिकायें है। ८८वीं कारिकाके द्वारा सर्वथा दैववादकी मान्यतामें दोष दिखलाते हुए कहा है कि यदि एकान्तत दैवसे ही इष्टानिष्ट वस्तुओकी निष्पत्ति स्वीकार की जाय तो उनका निष्पादक दैव किससे निष्पन्न होता है, यह प्रश्न उपस्थित होता है ? उसकी निष्पत्ति पौरुषसे तो मानी नही जा सकती, क्योकि 'सब पदार्थोकी सिद्धि दैवसे ही होती है' इस मान्यताकी समाप्ति हो जाती है।

यदि उसकी निष्पत्ति अन्य दैवसे कही जाय तो मोक्ष कभी किसीको हो ही नही सकेगा, क्योंकि वह अन्य दैव पूर्व दैवसे उत्पन्न होगा और वह पूर्व दैव भी और पूर्ववर्ती दैवसे होगा और इस तरह पूर्व-पूर्व दैवोका जहाँ ताता वना रहेगा वहाँ पौरुष निष्फल सिद्ध होगा ।

८९ वी कारिकाके द्वारा सर्वथा पौरुषवादको भी दोषपूर्ण वतलाते हुए कहा गया है कि यदि सर्वथा पौरुषसे ही सभी इष्टानिष्ट वस्तुओंकी निष्पत्ति हो तो पौरुप किससे उत्पन्न होता है, यह वताया जाय ? दैवसे तो उसकी उत्पत्ति कही नही जा सकती, क्योकि 'पौरुषसे ही सव पदार्थों-की सिद्धि होती है' यह प्रतिज्ञा टूट जाती है । अगर अन्य पौरुषसे उसकी निष्पत्ति कही जाय तो किसी भी प्राणीका पौरुष (प्रयत्न) निष्फल नही होना चाहिए—सभीका पौरुष सफल होना चाहिए । पर ऐसा दृष्टिगोचर नही होता । अत दैवैकान्तकी तरह पौरुषैकान्त भी सदोष है और इसलिए वह भी ग्राह्य नही है ।

कारिका ९० के द्वारा उभयैकान्तमें विरोध और अनुभयैकान्तमें 'अनुभय' शब्दसे भी उसका प्रतिपादन न हो सकनेका दोष पूर्ववत् वताया गया है ।

कारिका ९१ के द्वारा स्याद्वादसे पदार्थोंकी सिद्धि की गई है । जहाँ इष्टानिष्ट वस्तुओंका समागम वुद्धिव्यापारके विना मिलता है वहाँ उनकी प्राप्ति दैवसे है और जहाँ उनका समागम वुद्धिव्यापारपूर्वक होता है वहाँ पौरुषकृत है ।

इस प्रकार इस परिच्छेदमें दैवैकान्त, पौरुषैकान्त आदि एकान्तोंको त्रुटिपूर्ण वतलाते हुए उनमें स्याद्वादसे वस्तुसिद्धिकी व्यवस्था की गई है और यहाँ भी पूर्ववत् सप्तभङ्गीकी योजना दिखलाई है ।

नवम परिच्छेद :

इस परिच्छेदमें पिछले परिच्छेदमें वर्णित दैवकारकोपायतत्त्वके पुण्य और पाप ये दो भेद करके उनकी स्थितिपर विचार किया गया है। पुण्य

किन कारणोसे होता है और पाप किन बातोसे, यही इस परिच्छेदका विषय है, क्योकि पुण्य और पापके सम्बन्धमें भी ऐकान्तिक मान्यताएँ हैं ।

इसमें चार कारिकाएँ हैं । ९२ वी कारिकाके द्वारा उस मान्यताकी समीक्षा की है जिसमें दूसरेमें दु ख उत्पन्न करनेसे पाप बन्ध और सुख उत्पन्न करनेसे पुण्य बन्ध स्वीकृत है । पर यह मान्यता युक्त नही है, क्योकि ऐसा माननेपर दूध आदि दूसरेमें सुख तथा कण्टकादि दु ख उत्पन्न करनेके कारण उनके भी पुण्यबन्ध और पापबन्ध मानना पड़ेगा । यदि कहा जाय कि चेतन ही बन्धयोग्य है, अचेतन दुग्धादि एव कण्टकादि नही, तो वीतराग (कषाय रहित) भी पुण्य और पापसे बँधेंगे, क्योकि वे अपने भक्तोमें सुख और अभक्तोमें दु ख उत्पन्न करनेमें निमित्त पड़ते है । यदि कहा जाय कि उनका उन्हे सुख-दु ख उत्पन्न करनेका अभिप्राय न होनेसे उन्हें पुण्य-पापबन्ध नही होता तो 'परमें सुख उत्पन्न करनेसे पुण्य और दु ख उत्पन्न करनेसे पाप बन्ध होता है' यह एकान्त मान्यता नही रहती ।

९३वी कारिकाके द्वारा उन वादियोकी भी मीमासा की है जो कहते है कि अपनेमें दु ख उत्पन्न करनेसे तो पुण्य और सुख उत्पन्न करनेसे पापका बन्ध होता है । कहा गया है कि ऐसा सिद्धान्त माननेपर वीतराग मुनि और विद्वान् मुनि भी क्रमश कायक्लेशादि दु ख तथा तत्त्वज्ञानादि सुख अपनेमें उत्पन्न करनेके कारण पुण्य-पापसे बँधेंगे । फलत वे कभी भी ससार-बन्धनसे छुटकारा न पा सकेंगे । अत यह एकान्त भी सगत प्रतीत नही होता ।

९४ के द्वारा उभयैकान्तमें विरोध और अनुभयैकान्तमें 'अनुभय' शब्दसे भी उसका निर्वचन न हो सकनेका दोष पूर्ववत् प्रदर्शित किया गया है ।

कारिका ९५ के द्वारा स्याद्वादसे पुण्य और पापकी व्यवस्था की गई है । युक्तिपूर्वक कहा गया है कि सुख-दु ख, चाहे अपनेमें उत्पन्न किये जायें और चाहे परमें । यदि वे विशुद्धि (शुभ परिणामो) अथवा सक्लेश (अशुभ परिणामो) से पैदा होते है या उन परिणामोंके जनक हैं तो

क्रमश उनसे पुण्यास्रव और पापास्रव होता है। यदि ऐसा नही है तो जो दोष ऊपर दिया गया है उसका होना दुर्निवार है। यथार्थमें पुण्य और पाप अपनेको या परको सुख-दु ख पहुँचाने मात्रसे नही होते हैं, अपितु अपने शुभाशुभ परिणामोंपर उनका होना निर्भर है। जो सुख-दु ख शुभ परिणामोंसे जन्य हैं या उनके जनक हैं उनसे तो पुण्यका आस्रव होता है और जो अशुभपरिणामोसे जन्य या उनके जनक हैं वे नियमसे पापास्रवके और कारण या कार्य हैं। यह वस्तुव्यवस्था है। इस प्रकार स्याद्वादमें ही पुण्य पापकी व्यवस्था वनती हैं, एकान्तवादमें नही।

दशम परिच्छेद

इस अन्तिम परिच्छेदमें ९६–११४ तक बीस कारिकायें हैं। कारिका ९६ के द्वारा साख्यदर्शनके उस सिद्धान्तकी समीक्षा की गई है जिसमें कहा गया है कि 'अज्ञानसे वन्ध होता है और ज्ञानसे मोक्ष'। परन्तु यह सिद्धान्त युक्त नही है, क्योंकि ज्ञेय अनन्त है और इसलिए किसी-न-किसी ज्ञेयका अज्ञान वना रहेगा। ऐसी स्थितिमें कभी भी कोई पुरुष केवली नही हो सकता। इसी प्रकार अल्पज्ञान (प्रकृति-पुरुषका विवेक मात्र) से मोक्ष मानना भी युक्त नही है, क्योकि अल्पज्ञानके साथ बहुत-सा अज्ञान भी रहेगा। ऐसी दशामें वन्ध ही होगा, मोक्ष कभी न हो सकेगा। इस प्रकार विचार करनेपर ये दोनो ही एकान्त दोषपूर्ण है और इसलिए वे ग्राह्य नही है।

९७ के द्वारा उभयैकान्तमें विरोध और आवाच्यतैकान्तमें 'अवाच्य' शब्दके द्वारा भी उसका निर्देश न हो सकनेका दोष दिया गया है।

९८ के द्वारा स्याद्वादमे वन्ध और मोक्षकी व्यवस्था वतलाते हुए कहा है कि मोहसहित अज्ञानसे वन्ध होता है, मोहरहित अज्ञानसे नही। इसी तरह मोहरहित अल्पज्ञानसे मोक्ष सम्भव है और मोहसहित अल्पज्ञान-से नही। अत वन्धका कारण केवल अज्ञान नही है और न मोक्षका कारण केवल अल्पज्ञान है। यथार्थमें मोहके सद्भावमें वन्ध और मोहके अभावमें मोक्ष अन्वय-व्यतिरेकसे सिद्ध होते है। अज्ञानका बन्धके साथ और ज्ञानका

मोक्षके साथ अन्वयव्यभिचार तथा व्यतिरेकव्यभिचार होनेसे उनका उनके साथ न अन्वय हैं और न व्यरिरेक । और जव उनका उनके साथ अन्वय-व्यतिरेक नही है तो उनमें कार्यकारणभाव भी नही वन सकता । अत मोहसहित अज्ञानसे बन्ध और मोहरहित थोडेसे भी ज्ञानसे मोक्षकी व्यवस्था मानी जानी चाहिए ।

कारिका ९९ में उनकी समीक्षा अन्तर्निहित हैं जो प्राणियोकी अनेक प्रकारकी इच्छादि सृष्टिको ईश्वरकृत मानते है—उसे उनके शुभाशुभ-कर्मजन्य स्वीकार नही करते । ग्रन्थकार कहते है कि प्राणियोकी इच्छादि विचित्र सृष्टि उनके स्वकर्मानुसार होती है, ईश्वर उसका कर्त्ता नही है । और उनका वह कर्म उनके शुभाशुभ परिणामोसे अर्जित होता है, क्योकि समस्त ससारी जीव शुद्धि (शुभ परिणाम) और अशुद्धि (अशुभ परिणाम) की अपेक्षासे दो भागोमें विभक्त हैं ।

उल्लिखित शुद्धि और अशुद्धि ये दोनो जीवोकी एक प्रकारकी शक्तियाँ हैं जो उनमें पाक्य और अपाक्य शक्तियोकी तरह नैसर्गिक होती हैं, यह कारिका १०० में प्रतिपादन है ।

कारिका १०१ में जैन प्रमाणका स्वरूप और उसके अक्रमभावि तथा क्रमभावि ये दो भेद निर्दिष्ट हैं ।

कारिका १०२ में प्रमाणफलका निर्देश करते हुए उसे दो प्रकारका बतलाया है—एक साक्षात्फल और दूसरा परम्पराफल । अक्रमभावि (केवल) प्रमाणका साक्षात्फल अज्ञाननिवृत्ति और परम्पराफल उपेक्षा (वस्तुओमें रागद्वेषका अभाव) है । क्रमभावि प्रमाणका भी साक्षात्फल अज्ञाननाश है और परम्पराफल हानबुद्धि, उपादानबुद्धि तथा उपेक्षा-बुद्धि है ।

कारिका १०३ में सूचित किया है कि वक्ताके प्रत्येक वाक्यमें उसके आशयका वोधक 'स्यात्' निपातपद प्रकट या अप्रकट रूपमें अवश्य विद्यमान रहता है जो एक धर्म (बोध्य) का बोधक (वाचक) होता हुआ अन्य अनेक धर्मों (अनेकान्त) का द्योतक होता है । यह बात सामान्य वक्ताके

वाक्योंके विषयमें ही नही है, केवलियोंके भी वाक्योंमें 'स्यात्' निपातपद निहित रहता है और वह एक (विवक्षित) धर्मका प्ररूपक होता हुआ अन्य सभी (अविवक्षित) धर्मोंका अस्तित्वप्रकाशक होता है।

कारिका १०४ में उसी 'स्यात्' के वाद (मान्यता) अर्थात् स्याद्वाद को स्पष्ट किया गया है। कहा गया है कि किञ्चित्, कथञ्चित् शब्दोसे जिसका विधान होता है और जिसमें एकान्तकी गन्ध नही है तथा जो सप्तभङ्गीनयसे विवक्षित (उपादेय) का विधायक एव अविवक्षितो (हेयो —शेष धर्मों) का निषेधक (सन्मात्रसूचक) है वह स्याद्वाद है। कथञ्चिद्वाद, किञ्चिद्वाद इसीके पर्याय हैं।

कारिका १०५ में स्याद्वादका महत्त्व घोषित करते हुए कहा गया है कि तत्त्वप्रकाशनमें स्याद्वादका वही महत्त्व है जो केवलज्ञानका है। दोनो ही समस्त तत्त्वोके प्रकाशक हैं। उनमें यदि अन्तर है तो इतना ही कि केवलज्ञान साक्षात् समस्त तत्त्वोंका प्रकाशक है और स्याद्वाद असाक्षात् (परोक्ष) उनका प्रकाशक है।

कारिका १०६ में प्रतिपादन है कि उल्लिखित तत्त्वप्रकाशन स्याद्वाद (श्रुत—अहेतुवाद—आगम) के अतिरिक्त नयसे भी होता है और नयसे वहाँ हेतु विवक्षित है। जो स्याद्वादके द्वारा जाने गये अर्थके विशेष (धर्म) का गमक है तथा सपक्षके साधर्म्य एव विपक्षके वैधर्म्य (अन्यथानुपपन्नत्व) को लिए हुए है अर्थात् साध्यका अविनाभावी होता हुआ साध्यका साधक है वह हेतु है। व्याख्याकारोंने इस कारिकामें ग्रन्थकार द्वारा नयलक्षणके भी कहे जानेका व्याख्यान किया है। उनके व्याख्यानके अनुसार नय तत्त्वज्ञानका वह महत्त्वपूर्ण उपाय है जो स्याद्वादद्वारा प्रमित अनेकान्तके एक-एक धर्मका बोध कराता है। समग्रका ग्राहक ज्ञान तो प्रमाण है और असमग्रका ग्राहक नय है। यही इन दोनोंमें भेद है।

कारिका १०७ में जैन सम्मत वस्तु (प्रमेय) का भी स्वरूप निरूपित है। ऊपर नयका निर्देश किया जा चुका है। उसके तथा उसके भेदोउपभेदो (उपनयो) के विषयभूत त्रिकालवर्ती धर्मो (गुण-पर्यायों) के समुच्चय (समष्टि) का नाम द्रव्य (वस्तु—प्रमेय) है। यह समुच्चय

सयोगादि सम्बन्धरूप न होकर कथञ्चित् अविभ्राड्भावसम्बन्ध (तादात्म्य) रूप है। वस्तुका कोई भी धर्म उसके शेष धर्मों से न सर्वथा भिन्न है और न सर्वथा अभिन्न। सभी धर्म परस्पर मैत्रीभावके साथ वस्तुमें वर्तमान है और वे सभी वस्तुकी आत्मा (स्वरूप) हैं। इस प्रकारके सह अस्तित्वात्मक सम्बन्धको अविष्वग्भावसम्बन्ध कहते हैं। वस्तु सत्सामान्य-की अपेक्षासे एक होती हुई भी धर्म-धर्मीके भेदसे अनेकरूप भी है। अथवा यो कहे कि वह न सर्वथा एक है और न सर्वथा अनेक है, अपितु एकाने-कात्मक जात्यन्तररूप है।

कारिका १०८ में उस शङ्काका समाधान प्रस्तुत है जिसमें कहा गया है कि जैनदर्शनमें एकान्तोंके समूहका नाम अनेकान्त है और एकान्तको मिथ्या (असत्य) माना गया है। अत उनका समूह (अनेकान्त) भी मिथ्या कहा जायेगा। अनेक असत्य मिलकर एक सत्य नही बन सकता। इस लिए उक्त एकान्तसमुच्चयरूप अनेकान्तको जो ऊपर वस्तु कहा गया है वह सम्यक् नही है ? इस शङ्काका समाधान करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि निरपेक्ष एकान्तोके समूहको यदि मिथ्या कहा जाता है तो वह हमें इष्ट है, क्योकि स्याद्वादियोके यहाँ वस्तुमें निरपेक्ष एकान्तता नही है। स्याद्वादी सापेक्ष एकान्तको स्वीकार करते तथा उनके ही समूहको अनेकान्त मानते है, निरपेक्ष एकान्तोके समूहको नही। उन्होने स्पष्टतया निरपेक्ष नयो (एकान्तो) को मिथ्या (असत्य) और सापेक्षोको वस्तु (सम्यक्—सत्य) कहा है, क्योकि वे ही अर्थक्रियाकारी हैं।

कारिका १०९ में वाचकके स्वरूपकी भी स्याद्वाददृष्टिसे व्यवस्था की गई है। जो विधिवाक्यको केवल विधिका और निषेधवाक्यको केवल निषेधका नियामक मानते है उनकी समीक्षा करते हुए कहा गया है कि चाहे विधिवाक्य हो, चाहे निषेधवाक्य, दोनो ही विधि और निषेधरूप अनेकान्तात्मक वस्तुका बोध कराते हैं। जब विधिवाक्य बोला जाता है तो उसके द्वारा अपने विवक्षित विधि धर्मका प्रतिपादन होनेके साथ प्रतिषेध धर्मका भी मौन अस्तित्व स्वीकार किया जाता है—उसका निराकरण या लोप करके वह मात्र विधिका ही बोध नही कराता। इसी

प्रकार प्रतिषेधवाक्य भी अपने विवक्षित प्रतिषेध धर्मका कथन करनेके साथ अविनाभावी विधि धर्मका भी मौन ज्ञापन करता है—उसका निराम या उपेक्षा करके केवल निषेधको ही सूचित नही करता। इसका कारण यह है कि प्रत्येक वस्तु अनन्तधर्मा है—तद् और अतद् इन विरोधी धर्मोंको अपनेमें समाये हुए है। अत कोई भी वाक्य उसके इस स्वरूपका लोप करके मनमानी नही कर सकता। हाँ, वह अपने विवक्षित वाच्यका मुख्यतया और शेषका गौणरूपसे अवगम कराता है। इसी तथ्यको प्रस्तुत करनेके लिए स्याद्वाददर्शनमें वक्ता द्वारा बोले गये प्रत्येक वाक्यमें 'स्यात्' निपात-पद कही प्रकट और कही अप्रकट रूप-से अवश्य रहता है। यदि विधिवाक्य या निषेधवाक्य केवल विधि या केवल निषेधके ही नियामक हो तो अन्य विरोधी धर्मका लोप होनेसे उसका अविनाभावी अभिधेय धर्मका भी अभाव हो जायेगा और तब वस्तुमें कोई भी धर्म (विशेषण) न रहने पर वह अविशेष्य (शून्य) हो जायगी।

११०–११३ तक चार कारिकाओंके द्वारा वाच्यके स्वरूपमें अङ्गीकृत एकान्तवादियोके अभिनिवेशोकी समीक्षा करते हुए स्याद्वादसे वाच्यके भी स्वरूपकी स्थापना की है। ग्रन्थकार कहते हैं कि प्रत्येक वचन (वाक्य) तद् और अतद् रूप वस्तुको कहता है, यह हम ऊपर देख चुके हैं, तो 'तद्रूप ही वस्तु है' ऐसा कथन करने वाला वचन सत्य नही है और जब वह सत्य नही तब असत्य वाक्योके द्वारा तत्त्वार्थ (यथार्थ वस्तु) का उपदेश कैसे हो सकता है? विधिवादियोको इसपर गम्भीरतासे विचार करना चाहिए।

'अन्य नही' इतना ही प्रत्येक वचन सूचन करते हैं, यह एकान्त मान्यता भी युक्त नही है, क्योकि वाणीका स्वभाव है कि वह अन्य वचन द्वारा प्रतिपाद्य अर्थका निषेध करती हुई अपने अर्थ सामान्यका भी प्रतिपादन करती है। जो वाणी ऐसी नही है वह खपुष्पके समान मिथ्या है।

के परहितसम्पादनप्रवण हृदयका और उनकी दर्शनविशुद्धि, प्रवचनवात्सल्य तथा मार्गप्रभावना जैसी उच्च भावनाओंका परिचय मिलता है।

(ग) देवागमकी व्याख्याएँ

ऊपर देवागम और उसके प्रतिपाद्य विषयका कुछ परिचय दिया गया है। अब उसकी व्याख्याओंका भी परिचय देनेका प्रयत्न किया जाता है।

देवागमपर तीन व्याख्याएँ उपलब्ध हैं[1]—१ देवागम-विवृति (अष्टशती-भाष्य), २ देवागमालङ्कार (आप्तमीमांसालङ्कार—अष्टसहस्री) और ३ देवागमवृत्ति।

१ देवागम-विवृति

इसके रचयिता आ० अकलङ्कदेव हैं। यह देवागमकी उपलब्ध व्याख्याओंमें सबसे प्राचीन और अत्यन्त दुरूह व्याख्या है। परिच्छेदोंके अन्तमें जो समाप्ति-पुष्पिकावाक्य पाये जाते हैं उनमें इसका आप्तमीमांसा-

---

१ आ० विद्यानन्दने अष्टसहस्रीके अन्तमें आ० अकलङ्कदेवके समाप्ति-मङ्गलसे पूर्व 'केचित्' शब्दोंके साथ देवागमके किसी व्याख्याकारका 'जयति जगति' आदि समाप्ति-मङ्गल पद्य दिया है। इससे प्रतीत होता है कि अकलङ्कदेवसे पूर्व भी देवागमपर किसी आचार्यकी व्याख्या रही है, जो विद्यानन्दको प्राप्त थी या उसकी उन्हें जानकारी थी और उसपरसे ही उन्होंने उल्लिखित समाप्ति-मङ्गलपद्य दिया है। लघुसमन्तभद्र (वि० सं० १३वीं शती) ने वादीभसिंहद्वारा देवागम (आप्तमीमांसा) के उपलालन—व्याख्यान करनेका उल्लेख अष्टसहस्री-टिप्पण (पृ० १) में किया है। पर वह भी आज अनुपलब्ध है। देवागमके महत्त्व और विश्रुतिको देखते हुए आश्चर्य नहीं कि उसपर विभिन्न कालोंमें विविध टीका-टिप्पणादि लिखे गये हों। अकलङ्कदेवने अष्टशती (का० ३३ की विवृति) में एक स्थानपर 'पाठान्तरमिदं बहु संगृहीतं भवति' शब्दोंका प्रयोग करके देवागमके पाठभेदों और उसकी अनेक व्याख्याओंकी ओर स्पष्ट संकेत किया है।

भाष्य (देवागम-भाष्य) के नामसे उल्लेख हुआ है।[1] आ० विद्यानन्दने अष्टसहस्रीके तृतीय परिच्छेदके आरम्भमें जो ग्रन्थ-प्रशंसामें पद्य दिया है उसमें उन्होंने इसका 'अष्टशती' नाम भी निर्दिष्ट किया है।[2] सम्भवतः आठसौ श्लोकप्रमाण रचना होनेसे इसे उन्होंने 'अष्टशती' कहा है। लगता है कि इस अष्टशतीको ध्यानमें रखकर ही अपनी 'देवागमालङ्कृति' व्याख्याको उन्होंने आठ हजार श्लोकप्रमित बनाया और 'अष्टसहस्री' नाम रखा। जो हो, इस तरह यह अकलङ्कदेवकी व्याख्या देवागम-विवृति, आप्तमीमांसा-भाष्य (देवागम-भाष्य) और अष्टशती इन तीनों नामोंसे जैन वाङ्मयमें विश्रुत है। इसका प्रायः प्रत्येक स्थल इतना जटिल एवं दुरवगाह है कि साधारण विद्वानोंका उसमें प्रवेश सम्भव नहीं है। उसके मर्म एवं रहस्यको अष्टसहस्रीके सहारे ही ज्ञात किया जा सकता है। भारतीय दर्शन-साहित्यमें इसकी जोड़की रचना मिलना दुर्लभ है। अष्टसहस्रीके अध्ययनमें जिस प्रकार कष्टसहस्रीका अनुभव होता है उसी प्रकार इस अष्टशतीके अभ्यासमें भी कष्टशतीका अनुभव उसके अभ्यासीको पद-पदपर होता है।

२. देवागमालङ्कृति

यह आ० विद्यानन्दकी अपूर्व एवं महत्त्वपूर्ण रचना है। इसे आप्त-मीमांसालङ्कृति, आप्तमीमांसालङ्कार और देवागमालङ्कार इन नामोंसे भी साहित्यमें उल्लिखित किया गया है। आठ हजार श्लोक प्रमाण होनेसे इसे लेखकने स्वयं 'अष्टसहस्री' भी कहा है।[3] देवागमकी जितनी व्याख्याएँ उपलब्ध हैं उनमें यह विस्तृत और प्रमेयबहुल व्याख्या है। इसमें देवा-

---

१ 'इत्याप्तमीमांसाभाष्ये दशमः परिच्छेदः ॥ छ ॥'

२ अष्टशती प्रथितार्था साष्टसहस्री कृतापि संक्षेपात् ।
विलसदकलङ्कधिषणैः प्रपञ्चनिचितावबोद्धव्या ॥
—अष्टस० पृ० १७८।

३ श्रोतव्याष्टसहस्री श्रुतैः किमन्यैः सहस्रसंख्यानैः ।
विज्ञायेत ययैव स्वसमय-परसमयसद्भावः ॥
—अष्टस० पृ० १५७।

गमकी कारिकाओ और उनके प्रत्येक पद-वाक्यादिका विस्तारपूर्वक अर्थोद्घाटन किया है। साथ ही उपर्युक्त अष्टशतीके प्रत्येक पदवाक्यादिका भी विशद अर्थ एव मर्म प्रस्तुत किया है। अष्टशतीको अष्टसहस्रीमें इस तरह आत्मसात् कर लिया गया है कि यदि दोनोको भेद-सूचक पृथक्-पृथक् टाइपोमें न रखा जाय तो पाठकको यह जानना कठिन है कि यह अष्टशतीका अग है और यह अष्टसहस्रीका। विद्यानन्दने अष्टशतीके आगे, पीछे और मध्यकी आवश्यक एव अर्थोपयोगी सान्दर्भिक वाक्यरचना करके अष्टशतीको अष्टसहस्रीमें मणि-प्रवाल न्यायसे अनुस्यूत किया है और अपनी तलस्पर्शिनी अद्भुत प्रतिभाका चमत्कार दिखाया है। वस्तुत यदि विद्यानन्द यह देवागमालकृति न रचते तो अष्टशतीका गूढ रहस्य अष्टशतीमें ही छिपा रहता और मेधावियोंके लिए वह रहस्यपूर्ण बनी रहती। देवागम और अष्टशतीके व्याख्यानोके अतिरिक्त इसमें विद्यानन्दने कितना ही नया विचारपूर्ण प्रमेय और अपूर्व चर्चाएँ भी प्रस्तुत की हैं। व्याख्याकारने अपनी इस व्याख्याके महत्त्वकी उद्घोषणा करते हुए लिखा है'—'हजार शास्त्रोका पढना-सुनना एक तरफ है और एकमात्र इस कृतिका अध्ययन एक ओर है, क्योंकि इस एकके अभ्याससे ही स्वसमय और परसमय दोनोंका ज्ञान हो जाता है।' व्याख्याकारकी यह घोषणा न मदोक्ति है और न अतिशयोक्ति। अष्टसहस्री स्वय इसकी निर्णायिका है। देवागममें यत दश परिच्छेद हैं अत' उसके व्याख्यानस्वरूप अष्टसहस्रीमें भी दश परिच्छेद हैं। प्रत्येक परिच्छेदका आरम्भ और समाप्ति दोनो एक-एक गम्भीर पद्य द्वारा किये गये हैं। इसपर लघुसमन्तभद्र (१३वी शती) ने 'अष्टसहस्री-विषमपदतात्पर्यटीका' और श्वेताम्बर विद्वान् यशोविजय (१७वी शती) ने 'अष्टसहस्रीतात्पर्यविवरण' नामकी व्याख्याएँ लिखी हैं, जो अष्टसहस्रीके विषमपदो, वाक्यो और स्थलोका स्पष्टीकरण करती हैं। यह देवागमालकृति कोई ५२ वर्ष पूर्व सन् १९१५ में सेठ नाथारङ्गजी गाधी द्वारा एक बार प्रकाशित हो चुकी है। पर वह अब अप्राप्य है। अब आधुनिक सम्पादनके साथ इसका दूसरा शुद्ध सस्करण प्रकट होना चहिये।

३ देवागम-वृत्ति—यह देवागमकी लघुपरिमाणकी व्याख्या है। यह न अष्टशतीकी तरह दुरूह है और न अष्टसहस्रीके समान विस्तृत एवं गम्भीर है। कारिकाओंका व्याख्यान भी लम्बा नहीं है और न दार्शनिक विस्तृत ऊहापोह है। मात्र कारिकाओं और उनके पद-वाक्योंका शब्दार्थ और कहीं-कहीं फलितार्थ अतिसंक्षेपमें प्रस्तुत किया गया है। पर हाँ, कारिकाओंका अर्थ समझनेके लिये यह वृत्ति पर्याप्त उपयोगी है। इसके रचयिता आ० वसुनन्दि हैं, जिन्होंने वृत्तिके अन्तमें स्वयं लिखा है[1] कि 'मैं मन्दबुद्धि और विस्मरणशील व्यक्ति हूँ। मैंने अपने उपकारके लिए ही इस देवागमका संक्षिप्त विवरण किया है।' वृत्तिकारके इस स्पष्ट आत्म-निवेदनसे इस वृत्तिकी लघुरूपता और उसका प्रयोजन अवगत हो जाता है। उल्लेखनीय है कि वसुनन्दिके समक्ष देवागमकी ११४ कारिकाओंपर ही अष्टशती और अष्टसहस्री उपलब्ध होते हुए तथा 'जयति जगति' आदि कारिकाको विद्यानन्दके उल्लेखानुसार किसी पूर्ववर्ती आचार्यकी देवागम-व्याख्याका समाप्ति-मङ्गल-पद्य जानते हुए भी उन्होंने उसे देवागमकी ११५वीं कारिका किस आधारपर माना और उसका विवरण किया? यह चिन्तनीय है। हमारा विचार है कि प्राचीन कालमें साधुओंमें देवागमका पाठ करने और उसे कण्ठस्थ रखनेकी परम्परा रही है। वसुनन्दिने देवागमको ऐसी प्रतिपरसे कण्ठस्थ किया होगा, जिसमें मूलमात्र देवागमकी ११४ कारिकाओंके साथ उक्त अज्ञात देवागम-व्याख्या-का समाप्तिमङ्गल-पद्य भी अङ्कित कर दिया गया होगा और उसपर ११५ का अङ्क डाल दिया होगा। वसुनन्दिने अष्टशती और अष्टसहस्री टीकाओंपरसे जानकारी एवं अनुसन्धान किये बिना देवागमका अर्थ हृदयङ्गम रखनेके लिये यह देवागम-वृत्ति लिखी होगी और उसमें कण्ठस्थ सभी (११५) कारिकाओंका विवरण लिखा होगा। यही कारण

१ 'श्रीमत्समन्तभद्राचार्यस्य देवागमाख्या कृतेः संक्षेपभूतं विवरणं कृतं श्रुतविस्मरणशीलेन वसुनन्दिना जडमतिनाऽऽत्मोपकाराय।'
—वसुनन्दि, देवागमवृत्ति पृ० ५०, सनातन, जैन ग्रन्थमा०

है कि प्रस्तुत वृत्तिमें न कहीं अष्टशतीके पदवाक्यादिका निर्देश मिलता है और न कहीं अष्टसहस्रीके। अस्तु। यह देवागमवृत्ति कलकत्ताकी सनातन जैन ग्रन्थमाला द्वारा सन् १९१४ में एक वार प्रकाशित हो चुकी है। यह अब अच्छे सस्करणके रूपमें पुन मुद्रित होना चाहिए।

(घ) देवागम-रचनाका मूलाधार

ऊपर देवागम और उसकी व्याख्याओंका परिचय देनेके बाद उसकी रचनाके मूलाधारपर भी यहाँ विचार किया जाता है।

आ विद्यानन्दका जैन वाङ्मयमें सम्मानपूर्ण स्थान है और उनकी कृतियोंको आप्त-वचन जैसा माना जाता है। इन विद्यानन्दके उल्लेखानुमार स्वामी समन्तभद्रने देवागमकी रचना तत्त्वार्थसूत्रके आरम्भमें स्तुत आप्तकी मीमासाके लिये की थी। उनके वे उल्लेख निम्न प्रकार हैं —

(१) 'शास्त्रावताररचितस्तुतिगोचराप्तमीमांसित कृति '

अष्टस आदिमङ्गलश्लो १, पृ. १।

(२) 'शास्त्रारम्भेऽभिष्टुतस्याप्तस्य मोक्षमार्गप्रणेतृतया कर्मभूभृद्भेतृतया विश्वतत्त्वाना ज्ञातृतया च भगवदर्हत्सर्वज्ञस्यैवान्ययोगव्यवच्छेदेन व्यवस्थापनपरा परीक्षेय विहिता।'

अष्टस पृ० २९४।

(३) श्रीमत्तत्त्वार्थशास्त्राद्भुतसलिलनिधेरिद्धरत्नोद्भवस्य,
प्रोत्थानारम्भकाले सकलमलभिदे शास्त्रकारै कृत यत्।
स्तोत्र तीर्थोपमान प्रथित-पृथु-पथ स्वामि-मीमांसित तत्
विद्यानन्दै स्वशक्त्या ॥

आप्तप० का १२३, पृ० २६५।

(४) ' "इति सक्षेपत शास्त्रादौ परमेष्ठिगुणस्तोत्रस्य मुनिपुङ्गवैर्विधीयमानस्यान्वय सम्प्रदायाव्यवच्छेदलक्षण पदार्थघटनालक्षणो वा लक्षणीय, प्रपञ्चतस्तदन्वयस्याक्षेपसमाधानलक्षणस्य श्रीमत्समन्तभद्रस्वामिभिर्देवागमाख्याप्तमीमांसायां प्रकाशनात्।' —आप्तप० का० १२०, पृ० २६१–२६२।

इन उल्लेखोमे स्पष्ट है कि तत्त्वार्थशास्त्र (तत्त्वार्थ, तत्त्वार्थसूत्र, नि श्रेयशास्त्र या मोक्षशास्त्र) के आरम्भमें जिन 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' आदि तीन असाधारण विशेषणोमे आप्तकी वन्दना शास्त्रकार आ० उमास्वामीने की है उन्ही विशेषणोकी मीमासा (सोपपत्ति विचारणा) स्वामी समन्तभद्रने आप्तमीमासामें की है । तात्पर्य यह कि तत्त्वार्थसूत्रका 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' आदि मङ्गलस्तोत्र आप्तमीमासाकी रचनाका मूलाधार है । विद्यानन्दके उक्त उल्लेखोंमें आये हुए 'शास्त्रावतार-रचितस्तुतिगोचराप्तमीमासित', 'शास्त्रकारै कृत यत् स्तोत्र स्वामि-मीमासित तत्', शास्त्रादौ परमेष्ठिगुणस्तोत्रस्य मुनिपुङ्गवैर्विधीयमानस्य तदन्वयस्याक्षेप-समाधानलक्षणस्य श्रीमत्समन्तभद्रस्वामिभिर्देवा-गमाख्याप्तमीमासाया प्रकाशनात्' जैसे स्पष्ट और अर्थगर्भ शब्द विशेप ध्यान देने योग्य हैं जो आप्तमीमासाको तत्त्वार्थसूत्रके मङ्गलस्तोत्रका व्याख्यान असन्दिग्ध घोषित कर रहे हैं । विद्यानन्दने अपने इस कथनको साधार और परम्परागत बतलानेके लिए उसे अकलङ्कदेवके अष्टशतीगत उस प्रतिपादनसे भी प्रमाणित किया है जिसमें अकलङ्कदेवने आप्तकी मीमासा (परीक्षा) करनेके कारण समन्तभद्रपर किये जाने वाले अश्रद्धालुता और अगुणज्ञताके आक्षेपोका उत्तर देते हुए कहा है कि ग्रन्थकारने देवागमादि मङ्गलपूर्वक की गई 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' आदि स्तवके विषयभूत परमात्माके गुणविशेषोकी परीक्षाको स्वीकार किया है, इससे उनमें श्रद्धा और गुणज्ञता दोनो बातें स्वय आपन्न हो जाती है, क्योकि उनमें एककी भी कमी रहने पर परीक्षा सम्भव नही है । निश्चय ही ग्रन्थकारने शास्त्रन्याय (तत्त्वार्थशास्त्रकी पद्धति—मङ्गल-विधानपूर्वक शास्त्रकरण) का अनुसरण करके ही आप्तमीमासाकी रचना-का उपक्रम किया है और इससे सहज ही जाना जा सकता है कि ग्रन्थ-कारमें श्रद्धा और गुणज्ञता दोनो हैं । अकलङ्कका वह प्रतिपादन इस प्रकार है —

'देवागमत्यादिमगलपुरस्सरस्तवविषयपरमात्मगुणातिशयपरीक्षामुपक्षि-पतैव स्वय श्रद्धागुणज्ञतालक्षण प्रयोजनमाक्षिप्त लक्ष्यते । तदन्यतरापायेऽर्थ-

स्यानुपपत्तेः । शास्त्रन्यायानुसारितया तथैवोपन्यासात् ।'

अष्टश० अष्टस० पृ० २ ।

विद्यानन्दने अकलङ्कदेवके इस प्रतिपादन और अपने उक्त कथनका इसी अष्टसहस्री (पृ० ३) में समन्वय भी किया है और इस तरह अपने निरूपणको उन्होंने परम्परागत सिद्ध करके उसमें प्रामाण्य स्थापित किया है।

(ङ) 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' स्तोत्र तत्त्वार्थसूत्रका मङ्गलाचरण

जहाँ विद्यानन्द और अकलङ्कदेवके उपर्युक्त उल्लेखोंसे सिद्ध है कि स्वामी समन्तभद्रकी आप्तमीमांसा 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' आदि स्तोत्रके व्याख्यानमें लिखी गई है वहाँ विद्यानन्दके ही उक्त उल्लेखोंपरसे यह भी स्पष्ट है कि वे उक्त स्तोत्रको तत्त्वार्थ अथवा तत्त्वार्थशास्त्रका मंगलाचरण मानते हैं। तथा तत्त्वार्थ अथवा तत्त्वार्थशास्त्रसे उन्हें आचार्य गृद्धपिच्छरचित दशाध्यायी तत्त्वार्थसूत्र ही विवक्षित है।[1] इस सम्बन्धमें पर्याप्त ऊहापोह एवं विस्तारपूर्वक विचार अन्यत्र किया जा चुका है।[2] परन्तु कुछ विद्वान विद्यानन्दके उक्त उल्लेखोंका साभिप्राय अर्थविपर्यास करके उसे सर्वार्थसिद्धिकार पूज्यपाद-देवनन्दिकी रचना बतलाते हैं।[3]

---

१ (क) कथं पुनस्तत्त्वार्थः शास्त्रं यतः तदारम्भे परमेष्ठिनामाध्यानं विधीयत इति चेत् तल्लक्षणयोगत्वात् ।' 'तच्च तत्त्वार्थस्य दशाध्यायीरूपस्यास्तीति शास्त्रं तत्त्वार्थः ।' —त० श्लो० पृ० २ ।

(ख) 'इति तत्त्वार्थशास्त्रादौ मुनीन्द्रस्तोत्रगोचरा ।'—आप्त० १२४ ।

(ग) दशाध्याये परिच्छिन्ने तत्त्वार्थे पठिते सति ।
फलं स्यादुपवासस्य भाषितं मुनिपुङ्गवैः ॥

२ 'तत्त्वार्थसूत्रका मङ्गलाचरण' शीर्षक लेखकके दो लेख, अनेकान्त वर्ष ५, किरण ६–७, १०–११ ।

३ 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्, के कर्ता पूज्यपाद देवनन्दि', शीर्षक लेख, मुनि हजारीमल स्मृतिग्रन्थ पृ० ५६३ ।

उनका प्रयत्न है कि प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार द्वारा खोजपूर्ण अनेकविध प्रमाणोंसे निर्णीत स्वामी समन्तभद्रके विक्रम सं० दूसरी-तीसरी शताब्दीके समयको वि० सं० सातवीं-आठवीं शताब्दी सिद्ध किया जाय ।

यहाँ उनकी स्थापनाओंको देकर उनपर सूक्ष्म और गहराईसे विचार किया जाता है :—

(१) आप्तपरीक्षागत प्रयोगोंसे सिद्ध है कि 'सूत्रकार' शब्द केवल आ० उमास्वामीके लिए ही प्रयुक्त नहीं होता था, दूसरे आचार्योंके लिए भी उसका प्रयोग किया जाता था ।

(२) तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकगत तत्त्वार्थसूत्रके प्रथम सूत्रकी अनुपपत्ति-उपस्थापन और उसके परिहारकी चर्चासे स्पष्ट फलित होता है कि विद्यानन्दके सामने तत्त्वार्थसूत्रके प्रारम्भमें 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' श्लोक नहीं था ।

(३) अष्टसहस्री तथा आप्तपरीक्षाके कुछ विशेष उल्लेखोंसे सिद्ध होता है कि इसी श्लोकके विषयभूत आप्तकी मीमांसा समन्तभद्रने अपनी आप्तमीमांसामें की ।

समीक्षा :

इन तीनों स्थापनाओंकी यहाँ समीक्षा की जाती है । प्रथम स्थापनाके समर्थनमें विद्यानन्दके ग्रन्थोंसे कोई ऐसा उल्लेख-प्रमाण प्रस्तुत नहीं किया, जिसमें उन्होंने उमास्वामीके अतिरिक्त अन्य किसी आचार्यको सूत्रकार या शास्त्रकार कहा हो । तथ्य तो यह है कि विद्यानन्दने अपने किसी भी ग्रन्थमें उमास्वामीके सिवाय अन्य किसी ग्रन्थकर्ताको सूत्रकार या शास्त्रकार नहीं लिखा । जहाँ कहीं अन्य ग्रन्थकर्ताओंके उन्होंने अवतरण दिये हैं उन्हें उन्होंने उनके नामसे या ग्रन्थ नामसे या केवल 'तदुक्तम्' कहकर उल्लिखित किया है, सूत्रकार या शास्त्रकारके नामसे नहीं । सूत्रकार या शास्त्रकार शब्दका प्रयोग केवल उमास्वामीके लिए किया है । इस सम्बन्धमें हमने विद्यानन्दके ग्रन्थोंपरसे खोजकर ३३ अवतरण उदाहरणार्थ

इस स्थापनाके समर्थनमें एक बात यह भी कही गई है कि विद्यानन्द-को यदि उक्त मङ्गलस्तोत्र उमास्वामी प्रणीत अभिप्रेत होता तो वे 'प्रबुद्धाशेषतत्त्वार्थे ...' आदि सोत्थानिका वाक्य द्वारा अनुपपत्ति-स्थापन और उसका परिहार न कर उसीका यहाँ निर्देश करते। इस सम्बन्धमें हम इतना ही पूछना चाहते हैं कि स्थापनाकारने उक्त उत्थानिकावाक्य सहित पद्योंसे उक्त अर्थ कैसे निकाला? क्योंकि विद्यानन्दने यहाँ केवल इस प्रसङ्गोपात्त अनुपपत्तिको प्रस्तुत करके उसका परिहार किया है जिसमें अनुपपत्तिकारने कहा है कि जब न कोई मोक्षमार्गका प्रवक्ताविशेष है और न कोई प्रतिपाद्यविशेष, तब प्रथम सूत्रकी रचना असंगत है? इस अनुपपत्तिका परिहार करते हुए वे कहते हैं कि मुनीन्द्र (सूत्रकार) ने 'मोक्षमार्गस्य नेतारं' आदि मङ्गलस्तोत्र द्वारा सर्वज्ञ, वीतराग और मोक्षमार्गके नेताकी स्तुति करके सिद्ध कर दिया है कि मोक्षमार्गका प्रवक्ताविशेष है और प्रतिपाद्यविशेष भी। और इसलिए भावी श्रेयसे युक्त होनेवाले ज्ञान-दर्शनस्वरूप आत्माको मोक्षमार्गको जाननेकी अभि-लाषा होनेपर सूत्रकारद्वारा प्रथम सूत्रका रचा जाना संगत है। विद्यानन्द-का वह पूरा स्थल इस प्रकार है :—

'ननु च तत्त्वार्थशास्त्रस्यादिसूत्रं तावदनुपपन्नं प्रवक्तृविशेषस्याभावे-ऽपि प्रतिपाद्यविशेषस्य च कस्यचित्प्रतिपित्साभावे च प्रवृत्तत्वादित्यनुपपत्ति-चोदनायामुत्तरमाह—

प्रबुद्धाशेषतत्त्वार्थे साक्षात्प्रक्षीणकल्मषे।
सिद्धे मुनीन्द्रसंस्तुत्ये मोक्षमार्गस्य नेतरि॥
सत्यां तत्प्रतिपित्सायामुपयोगात्मकात्मनः।
श्रेयसा योक्ष्यमाणस्य प्रवृत्तं सूत्रमादिमम्॥

तेनोपपन्नमेवेति तात्पर्यम्।'

त० श्लोक० पृ० ४।

विद्यानन्दने यहाँ 'प्रबुद्धाशेषतत्त्वार्थे', 'साक्षात्प्रक्षीणकल्मषे' और 'मोक्षमार्गस्य नेतरि' पदोंके द्वारा आप्तके जिन गुणोंका उल्लेख किया है

वे वही हैं जो 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' आदि स्तोत्रमें अभिहित हैं—उसीका यहाँ उन्होंने अनुवाद (दोहराना) किया है। 'सिद्धे मुनीन्द्रसंस्तुत्ये' पदके द्वारा तो उन्होंने स्पष्ट कर दिया है कि मुनीन्द्र (सूत्रकार) ने उक्त विशेषणोंसे आसकी स्तुति करनेके बाद ही आदिसूत्र रचा। हमें आश्चर्य है कि विद्यानन्दके जो उल्लेख स्थापनाकारके रंचमात्र भी साधक न होकर उनके लिए 'स्ववधाय कृत्योत्थापन' रूप हैं उन्हें प्रस्तुत करनेका साहस क्यों किया जाता है।

तीसरी स्थापनामें जो उक्त स्तोत्रके व्याख्यानस्वरूप आप्तमीमांसाके लिखे जानेकी बात कही गई है उसमें कोई विवाद नहीं है। पर जब उस स्तोत्रको विद्यानन्दके उल्लेखों द्वारा, जो स्थापनाकारके अभिप्रायके लेश-मात्र भी साधक नहीं हैं, पूज्यपाद-देवनन्दिका सिद्ध करनेकी असफल चेष्टा की जाती है तब भारी आश्चर्य होता है। 'प्रोत्थानारम्भकाले' इस आप्तपरीक्षागत पदका सीधा और प्रकरणसंगत अर्थ है—प्रयत्नारम्भसमयमें अथवा अवतरणारम्भसमयमें। परन्तु इस सीधे अर्थको अङ्गीकार न कर उसका अर्थ किया गया है कि 'उत्थान शब्दका अर्थ है पुस्तक, अतएव प्रोत्थान शब्दका अर्थ हुआ प्रकृष्ट उत्थान अर्थात् वृत्ति या व्याख्यान, अतएव 'प्रोत्थानारम्भकाले' का अर्थ हुआ व्याख्यानारम्भकाले'। प्रश्न है कि प्रकृष्टज्ञानसे वृत्ति या व्याख्यानका ग्रहण कैसे कर लिया गया ? क्योंकि उसका समर्थन न किसी कोषसे होता है और न परम्परागत किसी स्रोत-से। यदि विद्यानन्दको उक्त स्तोत्र पूज्यपाद-देवनन्दिकी वृत्ति (सर्वार्थसिद्धि) का बताना इष्ट होता तो वे इतना बुद्धिव्यायाम न कर पाठकोंको उलझन-में न डालते और 'प्रोत्थानारम्भकाले' न लिखकर 'व्याख्यानारम्भकाले' लिख सकते थे। इसी तरह 'शास्त्रकारैः कृत' के स्थानपर 'वृत्तिकारैः कृत' दे सकते थे। इससे श्लोककी रचनामें कोई क्षति भी नहीं होती। किन्तु विद्यानन्दको यह सब इष्ट ही नहीं था। वे असन्दिग्ध रूपमें उक्त स्तोत्रको तत्त्वार्थशास्त्रका मानते थे और उसे शास्त्रकार—न कि वृत्तिकार रचित स्वीकार करते थे और शास्त्रकार या सूत्रकारसे उन्हें आ० गृद्धपिच्छ (उमास्वामी) ही अभिप्रेत थे।

देवागम और उसकी व्याख्याओके प्रसङ्गसे इतनी चर्चा करनेके उपरान्त अव उसके कर्त्ताके सम्बन्धमें भी विचार किया जाता है।

२ समन्तभद्र :

इस मूल्यवान् और महत्त्वपूर्ण कृतिके उपस्थापक आचार्य समन्तभद्र है, जो साहित्य और शिलालेखोमें विशिष्ट सम्मानके प्रदर्शक 'स्वामी' पदसे विभूषित मिलते हैं। आ० कुन्दकुन्द और गृद्धपिच्छके पश्चात् जैन वाङ्मयको जिस मनीषीने सर्वाधिक प्रभावित किया और यशोभाजन हुआ वह यही स्वामी समन्तभद्र हैं। इनका यशोगान शिलालेखों तथा वाङ्मयके मूर्धन्य ग्रन्थकारोंके ग्रन्थोंमें वहुलतया उपलब्ध है। अकलङ्कदेवने स्याद्वादतीर्थका प्रभावक और स्याद्वादमार्गका परिपालक, विद्यानन्दने स्याद्वादमार्गाग्रणी, वादिराजने सर्वज्ञका प्रदर्शक, मलयगिरिने आद्यस्तुतिकार तथा शिलालेखकोने वीरशासनकी सहस्रगुणी वृद्धि करनेवाला, श्रुतकेवलिसन्तानोन्नायक, समस्तविद्यानिधि, शास्त्रकर्त्ता एव कलिकालगणधर कहकर उनका कीर्तिगान किया है। यथार्थमें जव तत्त्वनिर्णय ऐकान्तिक होने लगा और उसे उतना ही माना जाने लगा तथा आर्हत-परम्परा ऋषभादि तीर्थंकरों द्वारा प्रतिपादित तत्त्व-व्यवस्थापक स्याद्वादन्यायको भूलने लगी, तो इसी महान् आचार्यने उसे उज्जीवित एव प्रभावित किया। अत ऐसे शासन-प्रभावक और तत्त्वज्ञानप्रसारक मूर्धन्य मनीषीका विद्वानो द्वारा गुणगान हो तो कोई आश्चर्य नही।

इनका विस्तृत परिचय और समयादिका निर्णय श्रद्धेय प० जुगलकिशोरजी मुख्तारने अपने 'स्वामी समन्तभद्र' नामक इतिहास-ग्रन्थ में दिया है। वह इतना प्रमाणपूर्ण, अविकल और शोधात्मक है कि ४२ वर्ष वाद भी उसमें सशोधन, परिवर्त्तन या परिवर्धनकी गुजाइश प्रतीत नहीं होती। वह आज भी विल्कुल नया और चिन्तनपूर्ण है। उसमें इतनी सामग्री है कि उसपर शोधार्थी अनेक शोध-प्रबन्ध लिख सकते हैं। अतएव यहाँ समन्तभद्रके परिचयादिकी पुनरावृत्ति न करके केवल उनकी उपलब्धियों पर प्रकाश डालनेका प्रयास करेंगे।

षट्खण्डागममें यद्यपि स्याद्वादकी स्वतन्त्र चर्चा नही मिलती, फिर भी सिद्धान्त-प्रतिपादन 'स्यात्' (सिया) शब्दको लिये हुए अवश्य मिलता है। उदाहरणार्थ मनुष्योको पर्याप्तक तथा अपर्याप्तक दोनो बतलाते हुए कहा गया है कि 'सिया पज्जत्ता, सिया अपज्जत्ता' अर्थात् मनुष्य स्यात् पर्याप्तक हैं, स्यात् अपर्याप्तक हैं। इसी प्रकारसे आगमके कुछ दूसरे विषयोका भी प्रतिपादन उपलब्ध होता है। आ० कुन्दकुन्दने उक्त दो (विधि और निषेध) वचन-प्रकारोमें पाँच वचन-प्रकार और मिलाकर सात वचन-प्रकारोसे वस्तु (द्रव्य) निरूपणका स्पष्ट उल्लेख किया है। यथा—

सिय अत्थि णत्थि उहय अव्वत्तव्वं पुणो य तत्तियय।
दव्व खु सत्तभग आदेसवसेण सभवदि ।।

पचास्तिकाय गा० १४।

'स्यादस्ति द्रव्य स्यान्नास्ति द्रव्य स्यादुभय स्यादवक्तव्यं स्यादस्त्यवक्तव्य स्यान्नास्त्यवक्तव्य स्यादस्तिनास्त्यवक्तव्यं।' इन सात भङ्गोका यहाँ उल्लेख हुआ है और उनको लेकर आदेशवशात् (नय-विवक्षानुसार) द्रव्य-निरूपण करनेकी सूचना की है। कुन्दकुन्दने यह भी प्रतिपादन किया है[1] कि यदि सद्रूप ही द्रव्य हो तो उसका विनाश नही हो सकता और यदि असद्रूप ही हो तो उसका उत्पाद सम्भव नही है और चूँकि यह देखा जाता है कि जीव मनुष्यपर्यायसे नष्ट, देवपर्यायसे उत्पन्न और जीवसामान्यसे ध्रुव रहनेसे वह उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वरूप है।

(ख) श्रीमत्परमगम्भीरस्याद्वादामोघलाञ्छनम्।
जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासन जिनशासनम्॥
प्रमाणस० १-१।

(ग) वन्दित्वा परमार्हता समुदय गा सप्तभङ्गीविधि
स्याद्वादामृतगर्भिणी प्रतिहतैकान्तान्धकारोदयाम्॥
अष्टश० मङ्गलश्लो० १।

१ पचास्तिकाय गा० १५, १७।

इममे प्रतीत होता है कि कुन्दकुन्दके समयमें जैनवाङ्मयमें दर्शनका रूप तो आने लगा था, पर उमका अभी विकास नही हो मका था। आ० गृद्धपिच्छके तत्त्वार्थसूत्रमें कुन्दकुन्दद्वारा प्रदर्शित दर्शनके रूपमें कुछ वृद्धि मिलती है। एक तो उन्होने प्राकृतमें मिद्धान्त-प्रतिपादनकी पद्धतिको मस्कृत-गद्य सूत्रोमें वदल दिया। दूसरे उपपत्तिपूर्वक सिद्धान्तोका निरूपण आरम्भ किया। तीसरे, आगम-प्रतिपादित ज्ञानमार्गणागत मत्यादि ज्ञानोको प्रमाण-मज्ञा देना, उसके प्रत्यक्ष और परोक्ष दो भेद करना, दर्शनान्तरोमें पृथक् प्रमाणरूपमें स्वीकृत स्मृति, प्रत्यभिज्ञान और अनुमानको मतिज्ञान कहकर उनका 'आद्ये परोक्षम्' (त० सू० १-११) सूत्रद्वारा परोक्षप्रमाणमें ही अन्तर्भाव करना और नैगमादि नयोको अर्थाधिगमका उपाय बताना आदि नया चिन्तन प्रारम्भ किया। इतना होनेपर भी दर्शनमें उन एकान्तवादो, मघर्पों और अनिश्चयोका तार्किक समाधान नही आ पाया था, जो उस ममयकी चर्चाके विषय थे।

(ख) तत्कालीन स्थिति

विक्रमकी दूसरी-तीमरी शताब्दीका समय भारतवर्षके इतिहासमें दार्शनिक क्रान्तिका ममय रहा है। इस ममय विभिन्न दर्शनोमें अनेक क्रान्तिकारी विद्वान् हुए हैं। श्रमण और वैदिक दोनो परम्पराओंमें अश्वघोष, मातृचेट, नागार्जुन, कणाद गौतम, जैमिनि जैसे प्रतिद्वन्द्वी विद्वानोका आविर्भाव हुआ और ये सभी अपने मडन और दूसरेके खडनमें लग गये। शास्त्रार्थोंकी वाढ-सी आ गई। सद्वाद-असद्वाद, शाश्वतवाद-उच्छेदवाद, अद्वैतवाद-द्वैतवाद और अवक्तव्यवाद-वक्तव्यवाद इन चार[1] विरोधी युगलोको लेकर तत्त्वकी मुख्यतया चर्चा होती थी और उनका चार कोटियोंमें विचार किया जाता था। तथा वादियोका अपनी इष्ट एक-एक कोटि (पक्ष) को ही माननेका आग्रह रहता था। इस खीचतानके कारण अनिश्चय (अज्ञान)

१ 'सदेकनित्यवक्तव्यास्तद्विपक्षाश्च ये नया.।
सर्वथेति प्रदुष्यन्ति पुष्यन्ति स्यादितीह ते ॥
स्वयम्भू० श्लो० १०१।

वादी सजयके अनुयायी तत्त्वको अनिश्चित ही वतलाते थे।[१] उपर्युक्त युगलोंमें लगनेवाली चार कोटियाँ इस प्रकार होती थी—

१ सदसद्वाद

(१) तत्त्व सत् है।
(२) तत्त्व असत् है।
(३) तत्त्व उभय है।
(४) तत्त्व अनुभय है।

२ शाश्वत-अशाश्वतवाद

(१) तत्त्व शाश्वत है।
(२) तत्त्व अशाश्वत है।
(३) तत्त्व उभय है।
(४) तत्त्व अनुभय है।

३ द्वैत-अद्वैतवाद

(१) तत्त्व द्वैत है।
(२) तत्त्व अद्वैत है।
(३) तत्त्व उभय है।
(४) तत्त्व अनुभय है।

४ वक्तव्यावक्तव्यवाद

(१) तत्त्व वक्तव्य है।
(२) तत्त्व अवक्तव्य है।
(३) तत्त्व उभय है।
(४) तत्त्व अनुभय है।

---

१ दीघनिकाय सामञ्‍ञफलसुत्तमें सजयका मत 'अमराविक्षेपवाद' के रूपमें मिलता है। अमरा एक प्रकारकी मछलीका नाम है। उसके समान विक्षेप (चचलता-अस्थिरता) का होना—मानना अमराविक्षेपवाद है।

(ग) समन्तभद्रकी देन

समन्तभद्रने प्रतिपादन किया कि तत्त्व उक्त चार ही कोटियोमें समाप्त नही हैं, अपितु सात कोटियोमें वह पूर्ण होता है।[1] उन्होंने स्पष्ट किया कि तत्त्व तो अनेकान्तरूप है[2]—एकान्तरूप नही और अनेकान्त विरोधी दो धर्मों (सत्-असत्, शाश्वत-अशाश्वत, एक-अनेक आदि) के युगलके आश्रयसे प्रकाशमें आनेवाले वस्तुगत सात धर्मोंका समुच्चय है[3] और ऐसे-ऐसे अनन्त सप्तधर्म-समुच्चय विराट् अनेकान्तात्मक तत्त्व-सागरमें अनन्त लहरोंकी तरह लहरा रहे हैं और इसीसे उसमें अनन्त सप्तकोटियाँ (सप्तभङ्गियाँ) भरी पडी हैं। हाँ, द्रष्टाको सजग और समदृष्टि होना चाहिए। उसे यह ध्यान रहे कि वक्ता या ज्ञाता तत्त्वको जब अमुक एक कोटिसे कहता या जानता है तो तत्त्वमें वह धर्म अमुक अपेक्षासे रहता हुआ भी अन्य धर्मोंका निषेधक नही है। केवल वह विवक्षावश

---

१ स्याद्वाद सर्वथैकान्तत्यागात् किंवृत्तचिद्विधि ।
सप्तभङ्गनयापेक्षो हेयादेयविशेषक ॥ आप्तमी० का० १०४ ।

२ (अ) 'तत्त्व त्वनेकान्तमशेषरूपम्'—युक्त्यनु० ४६ ।
(आ) एकान्तदृष्टिप्रतिषेधि तत्त्व प्रमाणसिद्ध तदतत्स्वभावम् ।
स्वयम्भू० ४१ ।
(इ) न सच्च नासच्च न दृष्टमेकमात्मान्तर सर्वनिषेधगम्यम् ।
दृष्ट विमिश्र तदुपाधिभेदात् स्वप्नेऽपि नैतत्त्वदृषे परेषाम् ॥
—युक्त्य० ३२ ।

३ (क) विधिर्निषेधोऽनभिलाप्यता च त्रिरेकशस्त्रिर्द्विश एक एव ।
त्रयो विकल्पास्तव सप्तधाऽमी स्याच्छब्दनेया सकलेऽर्थभेदे ॥
—युक्त्य० ४५ ।
(ख) विधेय वार्य चानुभयमुभय मिश्रमपि तत्
विशेषै प्रत्येक नियमविषयैश्चापरिमितै ।
सदन्योन्यापेक्षै सकलभुवनज्येष्ठगुरुणा
त्वया गीत तत्त्व बहुनयविवक्षेतरवशात् ॥
स्वयम्भू० ११८ ।

मुख्य और अन्य धर्म गौण है।[1] इसे समझनेके लिये उन्होने प्रत्येक कोटि (भङ्ग—वचनप्रकार) के साथ 'स्यात्' निपात-पद लगानेकी सिफारिश की[2] और 'स्यात्' का अर्थ 'कथञ्चित्'—किसी एक दृष्टि—किसी एक अपेक्षा बतलाया।[3] साथ ही उन्होने प्रत्येक कोटिकी निर्णयात्मकताको प्रकट करनेके लिए प्रत्येक वाक्यके साथ एवकार पदका प्रयोग भी निर्दिष्ट किया[4], जिससे उस कोटिकी वास्तविकता प्रमाणित हो, काल्पनिकता या सावृतिकता नही। तत्त्वप्रतिपादनकी इन सात कोटियोको उन्होने एक नया नाम भी दिया। वह नाम है भङ्गिनी प्रक्रिया—सप्तभङ्गी[5] अथवा सप्त-भङ्गनय।[6] समन्तभद्रकी वह परिष्कृत सप्तभङ्गी इस प्रकार प्रस्तुत हुई—

---

१ (क) विधिर्निषेधश्च कथञ्चिदिष्टौ
विवक्षया मुख्यगुणव्यवस्था।
स्वयम्भू० २५।

(ख) विवक्षितो मुख्य इतीष्यतेऽन्यो गुणोऽविवक्षो न निरात्मकस्ते।
स्वयम्भू० ५३।

२ (अ) वाक्येष्वनेकान्तद्योती गम्य प्रति विशेषणम्।
स्यान्निपातोऽर्थयोगित्वात्तव केवलिनामपि।।
आप्तमी० का० १०३।

(आ) तद्द्योतन स्याद् गुणतो निपात
युक्त्य० ४३।

३ स्याद्वाद सर्वथैकान्तत्यागात् किवृत्तचिद्विधि।
आप्तमी० १०४।

४ (क) यदेवकारोपहित पद तदस्वार्थत स्वार्थमवच्छिनत्ति।
युक्त्य० ४१।

(ख) अनुक्ततुल्य यदनेवकार व्यावृत्त्यभावान्नियमद्वयेऽपि।
युक्त्य० ४२।

५ प्रक्रिया भङ्गिनीमेना नयैर्नयविशारद।
आप्तमी० २३।

६ 'सप्तभङ्गनयापेक्ष ...' आप्तमी० १०४।

सदसद्वाद

(१) स्यात् सद्रूप ही तत्त्व है।[1]
(२) स्यात् असद्रूप ही तत्त्व है।
(३) स्यात् उभयरूप ही तत्त्व है।
(४) स्यात् अनुभय (अवक्तव्य) रूप ही तत्त्व है।
(५) स्यात् सद् और अवक्तव्यरूप ही तत्त्व है।[2]
(६) स्यात् असद् और अवक्तव्यरूप ही तत्त्व है।
(७) स्यात् सद् और असद् तथा अवक्तव्य रूप ही तत्त्व है।

इन सप्तभङ्गोमें प्रथम भङ्ग स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकी अपेक्षासे, द्वितीय परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकी अपेक्षासे, तृतीय दोनोंकी सम्मिलित अपेक्षाओंसे, चतुर्थ दोनों (सत्त्व-असत्त्व) को एक साथ कह न सकनेसे, पंचम प्रथम-चतुर्थके संयोगसे षष्ठ द्वितीय-चतुर्थके मेलसे और सप्तम तृतीय-चतुर्थके मिश्ररूपसे विवक्षित हैं और प्रत्येक भङ्गका प्रयोजन पृथक्-पृथक् है। जैसा कि समन्तभद्रके निम्न प्रतिपादनसे प्रकट है

सदेव सर्वं को नेच्छेत्स्वरूपादिचतुष्टयात्।
असदेव विपर्यासान्न चेन्न व्यवतिष्ठते॥

क्रमार्पितद्वयात् द्वैतं सहावाच्यमशक्तितः।
अवक्तव्योत्तराः शेषास्त्रयो भङ्गाः स्वहेतुतः॥

धर्मे धर्मेऽन्य एवार्थो धर्मिणोऽनन्तधर्मिणः।
अङ्गित्वेऽन्यतमान्तस्य शेषान्तानां तदङ्गता॥

आप्तमी० का० १५, १६, २२।

---

१ कथंचित्ते सदेवेष्टं कथञ्चिदसदेव तत्।
तथोभयमवाच्यं च नययोगान्न सर्वथा॥

आप्तमी० १४।

२ अवक्तव्योत्तराः शेषास्त्रयो भङ्गाः स्वहेतुतः॥

आप्तमी० १६।

समन्तभद्रने सदसद्वादकी तरह अद्वैत-द्वैतवाद, शाश्वत-अशाश्वतवाद, वक्तव्य-अवक्तव्यवाद, अन्यता-अनन्यतावाद, अपेक्षा-अनपेक्षावाद, हेतु-अहेतुवाद, विज्ञान-बहिरर्थवाद, दैव-पुरुषार्थवाद, पाप-पुण्यवाद और बन्ध-मोक्षकारणवाद इन एकान्त वादोपर भी विचार प्रकट किया तथा उक्त प्रकारसे उनमें भी सप्तभङ्गी (सप्तकोटियो) की योजना करके स्याद्वाद-की स्थापना की।[1] इस तरह विचारकोको उन्होने स्याद्वाद-दृष्टि (तत्त्व-विचारकी पद्धति) देकर तत्कालीन विचार-सघर्षको मिटानेमें महत्त्वपूर्ण योगदान किया। साथ ही दर्शनके लिए जिन उपादानोकी आवश्यकता होती है उनका भी उन्होने सृजन किया तथा आर्हत दर्शनको अन्य दर्शनो-के समकक्ष ही नही, उसे गौरवपूर्ण भी बनाया।

जिन उपादानोकी उन्होने सृष्टि करके उन्हें जैन दर्शनको प्रदान किया वे इस प्रकार हैं

१ प्रमाणका स्वपरावभासि लक्षण[2]।
२ प्रमाणके अक्रमभावि और क्रमभावि भेदोकी परिकल्पना[3]।
३ प्रमाणके साक्षात् और परम्परा फलोका निरूपण[4]।
४ प्रमाणका विषय[5]
५ नयका स्वरूप[6]
६ हेतुका स्वरूप[7]
७ स्याद्वादका स्वरूप[8]
८ वाच्यका स्वरूप[9]
९ वाचकका स्वरूप[10]

---

१ आप्तमी० का० २३, ११३। २ स्वयम्भूस्तोत्र का० ६३।
३ आप्तमीमासा का० १०१।
४ उपेक्षा फलमाद्यस्य शेषस्यादान-हान-धी।
पूर्वाव्वाऽज्ञाननाशो वा सर्वस्यास्य स्वगोचरे॥ —आप्तमी० १०२।
५ आप्तमी० १०७। ६, ७ आप्तमी० १०६। ८ आप्तमी० १०४।
९ आप्तमी० १११, ११२। १० आप्तमी० १०९।

१० अभावका वस्तुधर्म-निरूपण एवं भावान्तर-कथन[1]
११ तत्त्वका अनेकान्तरूप प्रतिपादन[2]
१२ अनेकान्तका स्वरूप[3]
१३ अनेकान्तमें भी अनेकान्तकी योजना[4]
१४ जैनदर्शनमें अवस्तुका स्वरूप[5]
१५ स्यात् निपातका स्वरूप[6]
१६ अनुमानसे सर्वज्ञकी सिद्धि[7]
१७ युक्तियोसे स्याद्वादकी व्यवस्था[8]
१८ आप्तका तार्किक स्वरूप[9]
१९ वस्तु (द्रव्य-प्रमेय) का स्वरूप[10] ।

जैन न्यायके इन उपादानोंका उपस्थापन अथवा विकास करनेके कारण ही समन्तभद्रको जैन न्यायका आद्य-प्रवर्तक कहा गया है ।[11]

(घ) कृतियाँ

समन्तभद्रकी ५ कृतियाँ उपलब्ध हैं

१ देवागम—प्रस्तुत कृति है ।

२ स्वयम्भूस्तोत्र—इसमें चौबीस तीर्थंकरोंका दार्शनिकशैलीमें गुण-स्तवन है । इसमें १४३ पद्य हैं ।

३ युक्त्यनुशासन—इसमें भी वीरकी स्तुतिके बहाने दार्शनिक निरूपण हैं । यह ६४ पद्योंमें समाप्त हैं ।

---

१ 'भवत्यभावोऽपि च वस्तुधर्मः,
भावान्तरं भाववदर्हतस्ते । —युक्त्यनु० ५९ ।

२ युक्त्यनु० २३ ।
३ आप्तमी० १०७, १०८ ।

४ स्वयम्भूस्तो० १०३ ।
५ आप्तमी० ४८, १०५ ।

६ स्वयम्भू० १०२ ।
७ आप्तमी० ५ ।
८ आप्तमी० ११३ ।

९ जैन दर्शन, स्याद्वादाङ्क, वर्ष २, अङ्क ४-५, पृ० १७० ।

१० आप्तमी० का० ४, ५, ६ ।
११ आप्तमी० १०७ ।

४ जिन-शतक (स्तुति-विद्या)—यह ११६ पद्योंकी आलकारिक अपूर्व काव्य-रचना है। चौवीस तीर्थंकरोकी इसमें स्तुति की गई है।

५ रत्नकरण्डकश्रावकाचार—यह उपासकाचार विषयक १५० पद्यो-की अत्यन्त प्राचीन और महत्त्वपूर्ण सैद्धान्तिक कृति है।

इनमें आदिकी तीन दार्शनिक, चौथी काव्य और पाँचवी धार्मिक कृतियाँ हैं।

इनके अतिरिक्त भी इनकी जीवसिद्धि जैसी कुछ कृतियोके उल्लेख मिलते हैं पर वे अनुपलब्ध हैं।

उपसंहार

प्रस्तुत प्रस्तावनामें देवागम और स्वामी समन्तभद्रके सम्बन्धमें प्रकाश डाला गया है। इसी सन्दर्भमें देवागमकी व्याख्याओ और उसकी रचनाके प्रेरणास्रोतपर भी अनुचिन्तन प्रस्तुत किया गया है। प्रस्तावना यद्यपि अधिक लम्बी हो गई है तथापि उसमें किया गया विचार पाठकोको लाभप्रद होगा।

अन्तमें प्रस्तुत ग्रन्थके अनुवादक एव सम्पादक तथा जैन साहित्य व इतिहासके वेत्ता श्रद्धेय प० जुगलकिशोरजी मुख्तारके इस देवागम-अनुवादकी सराहना करूँगा। देवागम जैसे दुरवगाह दर्शन-ग्रन्थका बडे परिश्रमके साथ ग्रन्थानुरूप हिन्दी रूपान्तर प्रस्तुत करके समन्तभद्रभारती-के उपासकोंको उन्होंने बडा लाभ पहुँचाया है। परम प्रमोदका विषय है कि वे ९० वर्षकी वयमें भी शासन-सेवामें सलग्न हैं। हम उनके शतवर्षी होनेकी हृदयसे कामना करते हैं[1]।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय **दरबारीलाल कोठिया**
२९ मार्च, १९६७

---

१ खेद है कि इस महान् साहित्यकारका २२ दिसम्बर १९६८ को निधन हो गया। —प्रकाशक, द्वितीय सस्करण।

विषय-सूची

श्रीमत्स्वामि-समन्तभद्राचार्य-विरचित

देवागम

[जिनदेवागम-ज्ञापक-स्तोत्र]

अपरनाम

आप्त-मीमांसा

[सम्यग्मिथ्योपदेशाऽर्थविशेष-प्रतिपत्तिरूपा]

स्पष्टार्थादियुक्त-मूलानुगामी अनुवादसे भूषित

श्री-समन्तभद्र-महर्षये नमः ।

अनुवादकीय-मंगल-प्रतिज्ञा

श्रीवर्द्धमानमभिनम्य समन्तभद्रं
सद्बोध-चारुचरिता-ऽनघवाक्स्वरूपम् ।
देवागमं तदनुपमं वर-बोध-शास्त्रं
व्याख्यामि लोक-हित-शान्ति-विवेक-वृद्ध्यै ॥

'जो सम्यग्ज्ञानमय हैं, सच्चारित्ररूप हैं और जिनके वचन निर्दोष हैं उन समन्तभद्र (सब ओरसे भद्ररूप-मंगलमय) श्रीवर्द्धमान (भगवान महावीर) को तथा श्रीवर्द्धमान (विद्या-विभूति, कीर्ति आदि लक्ष्मीसे वृद्धिको प्राप्त हुए) समन्तभद्र-(स्वामी समन्तभद्राचार्य) को (अलग-अलग तथा एक साथ) नमस्कार करके, मैं (उनका विनम्र सेवक जुगलकिशोर) लौकिक-जनोंको हित-वृद्धि, शान्ति-वृद्धि और विवेक-वृद्धिके लिये उस 'देवागम' को (स्पष्टार्थ आदिसे युक्त हिन्दी अनुवादरूप) व्याख्या करता हूँ, जो कि उत्तम ज्ञानको शान्ति-शिक्षाको लिये हुए—सम्यक् तथा मिथ्या उपदेशके अर्थविशेषकी प्रतिपत्ति-जानकारी करानेवाला—अनुपम शास्त्र है और स्वामी समन्तभद्रकी एक अद्वितीय कृति है।'

प्रथम परिच्छेद

देवागमादि विभूतियाँ आप्त-महत्त्वकी हेतु नहीं

देवागम-नभोयान-चामरादि-विभूतयः ।
मायाविष्वपि दृश्यन्ते नातस्त्वमसि नो महान् ॥१॥

(हे वीरजिन !) देवोंके आगमनके कारण—स्वर्गादिकके देव आपके जन्मादिक कल्याणकोंके अवसरपर आपके पास आते हैं इसलिए—आकाशमें गमनके कारण—गगनमें विना किसी विमानादिकी सहायताके आपका सहज-स्वभावसे विचरण होता है इस हेतु—और चामरादि-विभूतियोंके कारण—चँवर, छत्र, सिंहासन, देवदुन्दुभि, पुष्पवृष्टि, अशोकवृक्ष, भामण्डल और दिव्य-ध्वनि-जैसे अष्ट प्रातिहार्योंका तथा समवसरणकी दूसरी विभूतियोंका आपके अथवा आपके निमित्त प्रादुर्भाव होता है इसकी वजहसे—आप हमारे—मुझ-जैसे परीक्षा-प्रधानियोंके—गुरु-पूज्य अथवा आप्तपुरुष नहीं हैं भले ही समाजके दूसरे लोग या अन्य लौकिक जन इन देवागमनादि अतिशयोंके कारण आपको गुरु, पूज्य अथवा आप्त मानते हों। क्योंकि ये अतिशय मायावियोंमें—मस्करि-पूरणादि इन्द्रजालियोंमें भी देखे जाते हैं। इनके कारण ही यदि आप गुरु, पूज्य अथवा आप्त हों तो वे मायावी इन्द्रजालिये भी गुरु, पूज्य तथा आप्त ठहरते हैं; जब कि वे वैसे नहीं हैं। अतः उक्त कारण-कलाप व्यभिचार-दोषसे दूषित होनेके कारण अनैकान्तिक हेतु है, उससे आपकी गुरुता एवं विशिष्टताको पृथक्

द्वेष-काम-क्रोध-मान-माया-लोभादि कषायोसे अभिभूत—स्वर्गके देवोंमे भी पाया जाता है—वही यदि महानता एव आप्तताका हेतु हो तो स्वर्गोंके रागी, द्वेषी, कामी तथा क्रोधादि-कषाय-दोषोसे दूषित देव भी महान् पूज्य एव आप्त ठहरें; परन्तु वे वैसे नही है, अत इस 'अन्तर्बाह्य-विग्रहादि-महोदय' विशेषणके मायावियोमे न पाये जानेपर भी रागादिमान् देवोमे उसका सत्त्व होनेके कारण वह व्यावृत्ति-हेतुक नही रहता और इसलिए उससे भी आप-जैसे आप्त-पुरुषोका कोई पृथक् बोध नही हो सकता।'

(यदि यह कहा जाय कि घातिया कर्मोंका अभाव होनेपर जिस प्रकारका विग्रहादि-महोदय आपके प्रकट होता है उस प्रकारका विग्रहादि महोदय रागादियुक्त देवोमे नही होता तो इसका क्या प्रमाण ? दोनोका विग्रहादि-महोदय अपने प्रत्यक्ष नही है, जिससे तुलना की जा सके। यदि अपने ही आगमको इस विषयमे प्रमाण माना जाय तो यह हेतु भी आगमाश्रित्त ठहरता है और एक मात्र इसीसे दूसरोको यथार्थ वस्तु-स्थितिका प्रत्यय एव विश्वास नही कराया जा सकता। अत यह विग्रहादि-महोदय हेतु भी आपकी महानता व्यक्त करनेमे असमर्थ होनेसे मेरे जैसोंके लिए उपेक्षणीय है।)

तीर्थंकरत्व भी आप्त-गुरुत्वका हेतु नही, तब गुरु कौन ?

तीर्थकृत्समयानां च परस्पर-विरोधतः।
सर्वेषामाप्तता नास्ति, कश्चिदेव भवेद्गुरुः ॥३॥

'(यदि यह कहा जाय कि आप -तीर्थंकर हैं—ससारसे पार उतरनेके उपायस्वरूप आगम-तीर्थके प्रवर्तक हैं—और इसलिए आप्त-सर्वज्ञ होनेसे महान् हैं, तो यह कहना भी समुचित प्रतीत नही होता, क्योकि तीर्थंकर तो दूसरे सुगतादिक भी कहलाते हैं और वे भी ससारसे पार उतरने अथवा निर्वृति प्राप्त करनेके

मलका पूर्णत क्षय हो जाता है—अर्थात् जिस प्रकार किट्ट-कालिमादि मलसे बद्ध हुआ सुवर्ण अग्निप्रयोगादिरूप योग्य साधनोको पाकर उस सारे बाहरी तथा भीतरी मलसे विहीन हुआ अपने शुद्ध सुवर्णरूपमे परिणत हो जाता है उसी प्रकार द्रव्य तथा भावरूप कर्ममलसे बद्ध हुआ भव्य जीव सम्यग्दर्शनादि योग्य साधनोके बलपर उस कर्ममलको पूर्णरूपसे दूर करके अपने शुद्धात्मरूपमे परिणत हो जाता है। अत किसी पुरुष-विशेषमे दोषो तथा उनके कारणोकी पूर्णत हानि होना असम्भव नही है। जिस पुरुषमे दोषो तथा आवरणोकी यह नि·शेष हानि होती है वही पुरुष आप्त अथवा निर्दोष सर्वज्ञ एव लोकगुरु होता है।'

सर्वज्ञ-सस्थिति

सूक्ष्मान्तरित-दूरार्थाः प्रत्यक्षा कस्यचिद्यथा।
अनुमेयत्वतोऽग्न्यादिरिति सर्वज्ञ-सस्थिति ॥५॥

'(यदि यह कहा जाय कि दोषो तथा आवरणोकी पूर्णत· हानि होनेपर भी कोई मनुष्य अतीत-अनागतकाल-सम्बन्धी सब पदार्थोको, अतिदूरवर्ती सारे वर्तमान पदार्थोंको और सम्पूर्ण सूक्ष्म-पदार्थोंको साक्षात् रूपसे नही जान सकता है तो वह ठीक नही है, क्योकि,) **सूक्ष्मपदार्थ**—स्वभावविप्रकर्षि परमाणु आदिक—, **अन्तरित पदार्थ**—कालसे अन्तरको लिये हुए कालविप्रकर्षि राम-रावणादिक—, और **दूरवर्ती पदार्थ**—क्षेत्रसे अन्तरको लिये हुए क्षेत्रविप्रकर्षि मेरु–हिमवानादिक—, **अनुमेय** (अनुमानका अथवा प्रमाणका विषय[1]) होनेसे **किसी-न-किसीके प्रत्यक्ष जरूर हैं,**

---

१ प्रमाणका विषय 'प्रमेय' कहलाता है। अनुमेयका अर्थ 'अनुगत मेय मान येषा ते अनुमेया प्रमेया इत्यर्थ' इस वसुनन्द्याचार्यके वाक्यानुसार 'प्रमेय' भी होता है और इस तरह अनुमेयत्व हेतुमें प्रमेयत्व हेतु भी गर्भित है।

जैसे अग्नि आदिक पदार्थ जो अनुमान या प्रमाणका विषय हैं वे किसीके प्रत्यक्ष जरूर हैं। जिसके सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थ प्रत्यक्ष हैं वह सर्वज्ञ है। इस प्रकार सर्वज्ञकी सम्यक् स्थिति, व्यवस्था अथवा सिद्धि भले प्रकार सुघटित है।'

निर्दोष सर्वज्ञ कौन और किस हेतुसे

स त्वमेवाऽसि निर्दोषो युक्ति-शास्त्राऽविरोधिवाक्
अविरोधो यदिष्टं ते प्रसिद्धेन न बाध्यते ॥६॥

'(हे वीर जिन!) वह निर्दोष—अज्ञान तथा रागादि-दोषोंसे रहित वीतराग और सर्वज्ञ—आप ही हैं, क्योंकि आप युक्ति-शास्त्राऽविरोधिवाक् हैं—आपका वचन (किसी भी तत्त्व-विषयमे) युक्ति और शास्त्रके विरोधको लिये हुए नही है। और यह अविरोध इस तरहसे लक्षित होता है कि आपका जो इष्ट है—मोक्षादितत्त्वरूप अभिमत—अनेकान्तशासन है—वह प्रसिद्धसे—प्रमाणसे अथवा पर-प्रसिद्ध एकान्तसे—बाधित नहीं है, जब कि दूसरोका (कपिल-सुगतादिकका) जो सर्वथा नित्यवाद-अनित्यवादादिरूप एकान्त अभिमत (इष्ट) है वह प्रत्यक्षप्रमाणसे ही नही किन्तु पर-प्रसिद्ध अनेकान्तसे भी बाधित है और इसलिए उन सर्वथा एकान्तमतोके नायकोमेसे कोई भी युक्ति-शास्त्रा-विरोधिवाक् न होनेसे निर्दोष एव सर्वज्ञ नही हैं।'

सर्वथैकान्तवादी आप्तोका स्वेष्ट प्रमाण-बाधित

त्वन्मताऽमृत-बाह्यानां सर्वथैकान्त-वादिनाम् ।
आप्ताऽभिमान-दग्धानां स्वेष्टं दृष्टेन बाध्यते ॥७॥

'जो लोग आपके मतरूपी अमृतसे—अनेकान्तात्मक-वस्तु-तत्त्वके प्रतिपादक आगम (शासन) से, जो कि दुःखनिवृत्ति-लक्षण परमानन्दमय मुक्ति-सुखका निमित्त होनेसे अमृतरूप है—बाह्य

(जन्म) भी नहीं बनता, शुभ-अशुभ कर्मोका फल भी नही बनता और न बन्ध तथा मोक्ष ही बनते है—किसी भी तत्त्व अथवा पदार्थकी सम्यक् व्यवस्था नही बैठती। और इस तरह उनका मत प्रत्यक्षसे ही वाधित नही, बल्कि अपने इष्टसे अपने इष्टका भी वाधक है।'

व्याख्या—वास्तवमे प्रत्येक वस्तु अनेकान्तात्मक है—उसमे अनेक अन्त-धर्म, गुण-स्वभाव, अग अथवा अंश हैं। जो मनुष्य किसी भी वस्तुको एक तरफसे देखता है—उसके एक ही अन्त-धर्म अथवा गुण-स्वभावपर दृष्टि डालता है—वह उसका सम्यग्द्रष्टा (उसे ठीक तौरसे देखने-पहचाननेवाला) नही कहला सकता। सम्यग्द्रष्टा होनेके लिये उसे उस वस्तुको सब ओरसे देखना चाहिये और उसके सब अन्तो, अगो, धर्मों अथवा स्वभावो-पर नजर डालनी चाहिये। सिक्केके एक ही मुखको देखकर सिक्के-का निर्णय करनेवाला उस सिक्केको दूसरे मुखसे पडा देखकर वह सिक्का नही समझता और इसलिये धोखा खाता है। इसीसे अनेकान्तदृष्टिको सम्यग्दृष्टि और एकान्तदृष्टिको मिथ्यादृष्टि कहा है[1]।

जो मनुष्य किसी वस्तुके एक ही अन्त, अग, धर्म अथवा गुण-स्वभावको देखकर उसे उस ही स्वरूप मानता है—दूसरे रूप स्वीकार नही करता—और इस तरह अपनी एकान्त-धारणा बना लेता है और उसे ही जैसे तैसे पुष्ट किया करता है, उसको 'एकान्त-ग्रहरक्त', एकान्तपक्षपाती अथवा सर्वथा एकान्तवादी कहते हैं। ऐसे मनुष्य हाथीके स्वरूपका विधान करनेवाले जन्मान्ध पुरुषोकी तरह आपसमे लडते-झगडते हैं और एक दूसरेसे शत्रुता धारण करके जहाँ परके बैरी बनते है वहाँ अपनेको हाथीके

---

१ अनेकान्तात्मदृष्टिस्ते सती शून्यो विपर्यय ।
तत सर्वं मृपोक्त स्यात्तदयुक्त स्वघातत ॥
—स्वयम्भूस्तोत्र

अधिक मात्रामे भी दे देता है। नतीजा यह होता है कि वे रोगी मर जाते हैं या अधिक कष्ट तथा वेदना उठाते हैं और वह मनुष्य कुचलेका ठीक प्रयोग न जानकर उसका मिथ्या प्रयोग करनेके कारण दण्ड पाता है, तथा कभी स्वय कुचला खाकर अपनी प्राणहानि भी कर डालता है। इस तरह कुचलेके विषयमे एकान्त आग्रह रखनेवाला जिस प्रकार स्व-पर-वैरी होता है उसी प्रकार दूसरी वस्तुओंके विषयमे भी एकान्त हठ पकडनेवालोको स्व-पर-वैरी समझना चाहिये।

सच पूछिये तो जो अनेकान्तके द्वेषी है वे अपने एकान्तके भी द्वेषी हैं, क्योकि अनेकान्तके बिना वे एकान्तको प्रतिष्ठित नही कर सकते—अनेकान्तके बिना एकान्तका अस्तित्व उसी तरह नही बन सकता जिस तरह कि सामान्यके बिना विशेषका या द्रव्यके बिना पर्यायका अस्तित्व नही बनता। सामान्य और विशेष अस्तित्व और नास्तित्व तथा नित्यत्व और अनित्यत्व धर्म जिस प्रकार परस्परमे अविनाभाव-सम्बन्धको लिये हुए हैं—एकके बिना दूसरेका सद्भाव नही बनता—उसी प्रकार एकान्त और अनेकान्तमे भी परस्पर अविनाभाव-सम्बन्ध है। ये सब सप्रतिपक्षधर्म एक ही वस्तुमे परस्पर अपेक्षाको लिए हुए होते हैं। उदाहरणके तौरपर अनामिका अगुली छोटी भी है और बडी भी कनिष्ठासे वह बडी है और मध्यमासे छोटी है। इस तरह अनामिकामे छोटापन और बडापन दोनो धर्म सापेक्ष हैं, अथवा छोटी है और छोटी नही है ऐसे छोटेपनके अस्तित्व और नास्तित्वरूप दो अविनाभावी धर्म भी उसमे सापेक्षरूपसे पाये जाते हैं—अपेक्षाको छोड देनेपर दोनोमेसे कोई भी धर्म नही बनता। इसी प्रकार नदीके प्रत्येक तटमे इस पारपन और उस पारपनके दोनो धर्म होते हैं और वे सापेक्ष होनेसे ही अविरोधरूप रहते हैं।

जो धर्म एक ही वस्तुमे परस्पर अपेक्षाको लिये हुए होते है वे अपने और दूसरेको उपकारी (मित्र) होते हैं और अपनी तथा

दूसरेकी सत्ताको बनाये रखते है। और जो धर्म परस्पर अपेक्षाको लिये हुए नही होते वे अपने और दूसरेके अपकारी (शत्रु) होते है—स्व-पर-प्रणाशक होते हैं, और इसलिये न अपनी सत्ताको कायम रख सकते है और न दूसरेकी। इसीसे स्वामी समन्तभद्रने अपने स्वयभूस्तोत्रमे भी—

' मिथोऽनपेक्षा स्व-पर-प्रणाशिन "
"परस्परेक्षा स्व-परोपकारिण "

इन वाक्योके द्वारा इसी सिद्धान्तकी स्पष्ट घोषणा की है। आप निरपेक्ष नयोको मिथ्या और सापेक्ष नयोको सम्यक् बतलाते है। आपके विचारसे निरपेक्ष नयोका विषय अर्थक्रियाकारी न होनेसे अवस्तु है और सापेक्ष नयोका विषय अर्थकृत् (प्रयोजनसाधक) होनेसे वस्तुतत्त्व है[1], निरपेक्ष नयोका विषय 'मिथ्या एकान्त' और सापेक्ष नयोका विषय 'सम्यक् एकान्त' है। और यह सम्यक् एकान्त ही प्रस्तुत अनेकान्तके साथ अविनाभावसम्बन्धको लिये हुए है। जो मिथ्या एकान्तके उपासक होते हैं उन्हे ही 'एकान्त-ग्रहरक्त' कहा गया है, वे ही 'सर्वथा एकान्तवादी' कहलाते हैं और उन्हे ही यहाँ स्वपरवैरी' समझना चाहिये। जो सम्यक् एकान्तके उपासक होते है उन्हे 'एकान्तग्रहरक्त' नही कहते, उनका नेता 'स्यात्' पद होता है, वे उस एकान्तको कथचित् रूपसे स्वीकार करते है, इसलिये उसमे सर्वथा आसक्त नही होते और न प्रतिपक्ष-धर्मका विरोध अथवा निराकरण ही करते है—सापेक्षावस्थामे विचारके समय प्रतिपक्ष-धर्मकी अपेक्षा न होनेसे उसके प्रति एक प्रकारकी उपेक्षा तो होती है किन्तु उसका विरोध अथवा निराकरण नही होता। और इसीसे वे 'स्व-पर-वैरी' नही कहे जा सकते। अत स्वामी समन्तभद्रका यह कहना बिल्कुल ठीक है कि 'जो एकान्तग्रहरक्त होते हैं वे स्वपरवैरी होते हैं।'

---

१ निरपेक्षा नया मिथ्या सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत् ॥ —देवागम १०८

अब देखना यह है कि ऐसे स्व-पर-वैरी एकान्तवादियोंके मतमें शुभ-अशुभ-कर्म, कर्मफल—सुख-दुःख, जन्म-जन्मान्तर (लोक-परलोक) और बन्ध-मोक्षादिकी व्यवस्था कैसे नहीं बन सकती। बात बिल्कुल स्पष्ट है—ये सब व्यवस्थाएँ चूँकि अनेकान्ताश्रित हैं—अनेकान्तके आश्रय बिना इन परस्पर विरुद्ध मालूम पड़नेवाली सापेक्ष अवस्थाओंकी कोई स्वतन्त्र सत्ता अथवा व्यवस्था नहीं बन सकती—इसलिये जो अनेकान्तके वैरी हैं—अनेकान्त-सिद्धान्तसे द्वेष रखते हैं—उनके यहाँ ये सब व्यवस्थाएँ सुघटित नहीं हो सकतीं। अनेकान्तके प्रतिषेधसे क्रम-अक्रमका प्रतिषेध हो जाता है, क्योंकि क्रम-अक्रमकी अनेकान्तके साथ व्याप्ति है। जब अनेकान्त ही नहीं तब क्रम-अक्रमकी व्यवस्था कैसे बन सकती है? अर्थात् द्रव्यके अभावमें जिस प्रकार गुण-पर्यायकी और वृक्षके अभावमें शीशम, जामन, नीम, आम्रादिकी कोई व्यवस्था नहीं बन सकती उसी प्रकार अनेकान्तके अभावमें क्रम-अक्रमकी भी व्यवस्था नहीं बन सकती। क्रम-अक्रमकी व्यवस्था न बननेसे अर्थक्रियाका निषेध हो जाता है क्योंकि अर्थक्रियाकी क्रम-अक्रमके साथ व्याप्ति है। और अर्थक्रियाके अभावमें कर्मादिक नहीं बन सकते—कर्मादिककी अर्थक्रियाके साथ व्याप्ति है। जब शुभ-अशुभ-कर्म ही नहीं बन सकते तब उनका फल सुख-दुःख, फल-भोगका क्षेत्र जन्म-जन्मान्तर (लोक-परलोक) और कर्मोंसे बँधने तथा छूटनेकी बात तो कैसे बन सकती है? सारांश यह कि अनेकान्तके आश्रय बिना ये सब शुभाऽशुभ-कर्मादिक निराश्रित हो जाते हैं और इसलिए सर्वथा नित्यत्वादि एकान्तवादियोंके मतमें इनकी कोई ठीक व्यवस्था नहीं बन सकती। वे यदि इन्हें मानते हैं और तपश्चरणादिके अनुष्ठान-द्वारा सत्कर्मोंका अर्जन करके उनका सत्फल लेना चाहते हैं अथवा कर्मोंसे मुक्त होना चाहते हैं तो वे अपने इस इष्टको अनेकान्तका विरोध करके बाधा पहुँचाते हैं, और इस तरह भी अपनेको स्व-पर-वैरी सिद्ध करते हैं।

वस्तुत अनेकान्त, भाव-अभाव, नित्य-अनित्य, भेद-अभेद आदि एकान्तनयोंके विरोधको मिटाकर, वस्तुतत्त्वकी सम्यक्-व्यवस्था करनेवाला है; इसीसे लोक-व्यवहारका सम्यक् प्रवर्तक है—विना अनेकान्तका आश्रय लिये लोकका व्यवहार ठीक वनता ही नही, और न परस्परका वैर-विरोध ही मिट सकता है। इसीलिये अनेकान्तको परमागमका वीज और लोकका अद्वितीय गुरु कहा गया है—वह सवोके लिये सन्मार्ग-प्रदर्शक है[1]। जैनी नीतिका भी वही मूलाधार है। जो लोग अनेकान्तका सचमुच आश्रय लेते हैं वे कभी स्व-पर-वैरी नही होते, उनसे पाप नही वनते, उन्हे आपदाएँ नही सताती, और वे लोकमे सदा ही उन्नत उदार तथा जयशील वने रहते हैं।

भावैकान्तकी सदोपता

भावैकान्ते पदार्थानामभावानामपह्नवात् ।
सर्वात्मकमनाद्यन्तमस्वरूपमतावकम् ॥९॥

'(हे वीर भगवन् !) यदि पदार्थोके भाव (अस्तित्व) का एकान्त माना जाय—यह कहा जाय कि सब पदार्थ सर्वथा सत् रूप ही हैं, असत् (नास्तित्व) रूप कभी कोई पदार्थ नही है—**तो इससे अभाव पदार्थोंका—प्रागभाव, प्रध्वसाभाव, अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभावरूप वस्तु-धर्मोंका—लोप ठहरता है, और इन वस्तु-धर्मोका लोप करनेसे वस्तुतत्त्व (सर्वथा) अनादि, अनन्त, सर्वात्मक और अस्वरूप हो जाता है, जो कि आपका इष्ट नही है**—प्रत्यक्षादिके विरुद्ध होनेसे आपका मत नही है।'

(किस अभावका लोप करनेसे क्या हो जाता अथवा क्या दोष आता है, उसका स्पष्टीकरण आगे किया गया है)

---

१ नीति-विरोध-ध्वसी लोकव्यवहारवर्तक सम्यक् ।
परमागमस्य वीज भुवनैकगुरुर्जयत्यनेकान्त ॥

प्रागभाव-प्रध्वसाभावके विलोपमें दोष

कार्य-द्रव्यमनादि स्यात्प्रागभावस्य निह्नवे ।
प्रध्वंसस्य च धर्मस्य प्रच्यवेऽनन्ततां व्रजेत् ॥१०॥

'प्रागभावका यदि लोप किया जाय—कार्यरूप द्रव्यका अपने उत्पादसे पहले उस कार्यरूपमे अभाव था, इस बातको न माना जाय—तो वह कार्यरूप द्रव्य—घटादिक अथवा शब्दादिक—अनादि ठहरता है—और अनादि वह है नही, एक समय उत्पन्न हुआ, यह बात प्रत्यक्ष है। यदि प्रध्वस धर्मका लोप किया जाय—कार्यद्रव्यमे अपने उस कार्यरूपमे विनाशकी शक्ति है और इसलिए वह बादको किसी समय प्रध्वसाभावरूप भी होता है, इस बातको यदि न माना जाय—तो वह कार्यरूप द्रव्य—घटादिक अथवा शब्दादिक—अनन्तता-अविनाशिताको प्राप्त होता है—और अविनाशी वह है नही, यह प्रत्यक्ष सिद्ध होता है, प्रत्यक्षमे घटादिक तथा शब्दादिक कार्योंका विनाश होते देखा जाता है। अत प्रागभाव और प्रध्वसाभावका लोप करके कार्यद्रव्यको उत्पत्ति और विनाश-विहीन सदासे एक ही रूपमे स्थिर (सर्वथा नित्य) मानना प्रत्यक्ष-विरोधके दोषसे दूषित है और इसलिए प्रागभाव तथा प्रध्वसाभावका लोप किसी तरह भी समुचित नही कहा जा सकता। इन अभावोको मानना ही होगा।'

अन्योऽन्याभाव-अत्यन्ताभावके विलोपमे दोष

सर्वात्मकं तदेकं स्यादन्याऽपोह-व्यतिक्रमे ।
अन्यत्र समवाये न व्यपदिश्येत सर्वथा ॥११॥

'यदि अन्याऽपोहका—अन्योन्याभावरूप पदार्थका—व्यतिक्रम किया जाय—वस्तुके एक रूपका दूसरे रूपमे अथवा एक वस्तुका दूसरी वस्तुमे अभाव है, इस बातको न माना जाय—तो वह

प्रवादियोका विवक्षित अपना-अपना इष्ट एक तत्त्व (अनिष्टतत्त्वो का भी उसमे सद्भाव होनेसे) अभेदरूप सर्वात्मक ठहरता है—और इसलिए उसकी अलगसे कोई व्यवस्था नही वन सकती। यदि अत्यन्ताभावका लोप किया जाय—एक द्रव्यका दूसरे द्रव्यमे सर्वथा अभाव है, इसको न माना जाय—तो एक द्रव्यका दूसरेमें समवाय-सम्बन्ध (तादात्म्य) स्वीकृत होता है और ऐसा होनेपर यह चेतन है, यह अचेतन है इत्यादि रूपसे उस एक तत्त्वका सर्वथा भेदरूपसे कोई व्यपदेश (कथन) नहीं बन सकता।'

अभावैकान्तकी सदोषता

अभावैकान्त-पक्षेऽपि भावाऽपन्हव-वादिनाम् ।
बोध-वाक्य प्रमाण न केन साधन-दूषणम् ॥१२॥

'यदि अभावैकान्तपक्षको स्वीकार किया जाय—यह माना जाय कि सभी पदार्थं सर्वथा असत्-रूप हैं—तो इस प्रकार भावोका सर्वथा अभाव कहनेवालोके यहाँ (मतमे) बोध (ज्ञान) और वाक्य (आगम) दोनोका ही अस्तित्व नहीं बनता और दोनोका अस्तित्व न बननेसे (स्वार्थानुमान, परार्थानुमान आदिके रूपमे) कोई प्रमाण भी नहीं बनता; तब किसके द्वारा अपने अभावैकान्त पक्षका साधन किया जा सकता और दूसरे भाव-वादियोके पक्षमें दूषण दिया जा सकता है ?—स्वपक्ष-साधन और परपक्ष-दूषण दोनो ही घटित न होनेसे अभावैकान्तपक्ष-वादियोके पक्षकी कोई सिद्धि अथवा प्रतिष्ठा नही बनती और वह सदोप ठहरता है, फलत अभावैकान्तपक्षके प्रतिपादक सर्वज्ञ एव महान् नही हो सकते।'

उभय और अवक्तव्य एकान्तोकी सदोषता

विरोधान्नोभयैकात्म्य स्याद्वाद-न्याय-विद्विषाम् ।
अवाच्यतैकान्तेऽप्युक्तिर्नाऽवाच्यमिति युज्यते ॥१३॥

'(भावैकान्त और अभावैकान्त दोनोकी अलग-अलग मान्यतामे दोष देखकर) यदि भाव और अभाव दोनोका एकात्म्य (उभयैकान्त) माना जाय, तो स्याद्वाद-न्यायके विद्वेषियोंके यहाँ—उन लोगोके मतमे जो अस्तित्व-नास्तित्वादि सप्रतिपक्ष धर्मोमे पारस्परिक अपेक्षाको न मानकर उन्हे स्वतन्त्र धर्मोके रूपमे स्वीकार करते हैं और इस तरह स्याद्वाद-नीतिके शत्रु बने हुए हैं—वह एकात्म्य नही बनता, क्योकि उससे विरोध दोष आता है—भावैकान्त अभावैकान्तका और अभावैकान्त भावैकान्तका सर्वथा विरोधी होनेसे दोनोमें एकात्मता घटित नही हो सकती ।'

'(भाव, अभाव और उभय तीनो एकान्तोकी मान्यतामे दोप देखकर) यदि अवाच्यता (अवक्तव्य) एकान्तको माना जाय—यह कहा जाय कि वस्तुतत्त्व सर्वथा अवाच्य (अनिर्वचनीय या अवक्तव्य) है—तो वस्तुतत्त्व 'अवाच्य' है ऐसा कहना भी नही बनता—इस कहनेसे ही वह 'वाच्य' हो जाता है, 'अवाच्य' नही रहता; क्योकि सर्वथा अवाच्यकी मान्यतामे कोई वचन-व्यवहार घटित ही नही हो सकता ।'

उक्त एकान्तोंकी निर्दोष विधि-व्यवस्था

कथञ्चित्ते सदेवेष्टं कथञ्चिदसदेव तत् ।
तथोभयमवाच्यं च नय-योगान्न सर्वथा ॥१४॥

'(स्याद्वाद-न्यायके नायक हे वीर भगवन् !) आपके शासनमें वह वस्तुतत्त्व कथञ्चित् (किसी प्रकारसे) सत्-रूप ही है, कथञ्चित् असत्-रूप ही है, कथञ्चित् उभयरूप ही है, कथञ्चित् अवक्तव्यरूप ही है (चकारसे) कथञ्चित् सत् और अवक्तव्य, रूप ही है; कथञ्चित् असत् और अवक्तव्यरूप ही है, कथञ्चित् सदसत् और अवक्तव्यरूप ही है; और यह सब नयोके योगसे है—वक्ताके अभिप्राय-विशेषको लिए हुए जो सप्तभंगात्मक नय-

विकल्प है उनकी विवक्षासे अथवा दृष्टिसे है—**सर्वथारूपसे नहीं**—नयदृष्टिको छोडकर सर्वथारूपमे अथवा सर्वप्रकारसे एकरूपमे कोई भी वस्तुतत्त्व व्यवस्थित नही होता।'

सत्-असत्-मान्यताकी निर्दोप विधि

सदेव सर्वं को नेच्छेत्स्वरूपादि-चतुष्टयात् ।
असदेव विपर्यासान्न चेन्न व्यवतिष्ठते ॥१५॥

'(हे वीर जिन !) **ऐसा कौन है जो सबको**—चेतन-अचेतनको, द्रव्य-पर्यायादिको, भ्रान्त-अभ्रान्तको अथवा स्वयके लिए इष्ट-अनिष्टको—**स्वरूपादिचतुष्टयकी दृष्टिसे**—स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभावकी अपेक्षासे—**सत् रूप ही, और पररूपादिचतुष्टयकी दृष्टिसे**—परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभावकी अपेक्षासे—**असत् रूप ही अगीकार न करे ?**—कोई भी लौकिकजन, परीक्षक, स्याद्वादी, सर्वथा एकान्तवादी अथवा सचेतन प्राणी ऐसा नही है, जो प्रतीतिका लोप करनेमे समर्थ न होनेके कारण इस बातको न मानता हो। **यदि** (स्वय प्रतीत करता हुआ भी कुनयके वश विपरीतबुद्धि अथवा दुराग्रहको प्राप्त हुआ) **कोई ऐसा नहीं मानता है तो वह** (अपने किसी भी इष्ट-तत्त्वमे) **अवस्थित अथवा व्यवस्थित नहीं होता है**—उसकी कोई भी तत्त्वव्यवस्था नही बनती। क्योकि स्वरूपके ग्रहण और पररूपके त्यागकी व्यवस्थासे ही वस्तुमे वस्तुत्वकी व्यवस्था सुघटित होती है, अन्यथा नही। स्वरूपकी तरह यदि पररूपसे भी किसीको सत् माना जाय तो चेतनादिके अचेतनत्वादिका प्रसग आता है। और पररूपकी तरह यदि स्वरूपसे भी असत् माना जाय, तो सर्वथा शून्यताकी आपत्ति खडी होती है। अथवा जिस रूपसे सत्त्व है उसी रूपसे असत्त्वको और जिस रूपसे असत्त्व है उसी रूपसे सत्त्वको माना जाय, तो कुछ भी

(अन्वय-हेतु) भेद-विवक्षा (वैधर्म्य अथवा व्यतिरेक-हेतु) के साथ अविनाभाव-सम्बन्धको लिए रहता है—व्यतिरेक (वैधर्म्य) के बिना अन्वय (साधर्म्य) और अन्वयके विना व्यतिरेक घटित नही होता ।'

नास्तित्वधर्म अस्तित्वके साथ अविनाभावी

नास्तित्व प्रतिषेध्येनाऽविनाभाव्येकधर्मिणि ।
विशेषणत्वाद्वैधर्म्यं यथाऽभेद-विवक्षया ॥१८॥

(इसी तरह) एक धर्मीमें नास्तित्वधर्म अपने प्रतिषेध्य- (अस्तित्व) धर्मके साथ अविनाभावी है—अस्तित्वधर्मके विना वह नही वनता—क्योकि वह विशेषण है—जो विशेषण होता है वह अपने प्रतिषेध्य (प्रतिपक्ष) धर्मके साथ अविनाभावी होता है—जैसे कि (हेतु-प्रयोगमे) वैधर्म्य (व्यतिरेक-हेतु) अभेद-विवक्षा (साधर्म्य या अन्वय-हेतु) के साथ अविनाभाव सम्बन्धको लिए रहता है—अन्वय (साधर्म्य) के विना व्यतिरेक (वैधर्म्य) और व्यतिरेकके विना अन्वय घटित ही नही होता ।'

शब्दगोचर-विशेष्य विधि-निषेधात्मक

विधेयप्रतिषेध्यात्मा विशेष्यः शब्दगोचरः ।
साध्यधर्मो यथा हेतुरहेतुश्चाप्यपेक्षया ॥१९॥

'जो विशेष्य (धर्मी या पक्ष) होता है वह विधेय तथा प्रतिषेध्य-स्वरूप होता है—विधिरूप अस्तित्वधर्म और निषेधरूप नास्तित्वधर्म दोनोको अपना विषय किये रहता है, क्योकि वह शब्द-का विषय होता है—जो-जो शब्दका विषय होता है वह सब विशेष्य विधेय-प्रतिषेध्यात्मक हुआ करता है। जैसे कि साध्यका जो धर्म एक विवक्षासे हेतु (साधन) रूप होता है वह दूसरी विवक्षासे अहेतु (असाधन) रूप भी होता है। उदाहरणके लिए साध्य

एव परिगृहीत नही है—वह अर्थ-क्रियाकी करनेवाली होती है। यदि ऐसा नहीं माना जाय तो बाह्य और अन्तरंग कारणोसे कार्यका निष्पन्न होना जो माना गया है वह नही बनता—सर्वथा सत्-रूप या सर्वथा असत्-रूप वस्तु अर्थ-क्रिया करनेमे असमर्थ है, चाहे कितने भी कारण क्यो न मिले, और अर्थ-क्रियाके अभावमे वस्तुत वस्तुत्व बनता ही नही।'

धर्म-धर्ममें अर्थभिन्नता और धर्मोंकी मुख्य-गौणता

धर्मे धर्मेऽन्य एवार्थो धर्मिणोऽनन्त-धर्मिणः ।
अङ्गित्वेऽन्यतमान्तस्य शेषान्तानां तद(दा)ङ्गता ॥२२॥

'अनन्तधर्मा धर्मीके धर्म-धर्ममे अन्य ही अर्थ सनिहित है—' धर्मीका प्रत्येक धर्म एक जुदे ही प्रयोजनको लिए हुए है। उन धर्मोमेसे किसी एक धर्मके अङ्गी (प्रधान) होनेपर शेष धर्मोकी उसके अथवा उस समय अङ्गता (अप्रधानता) हो जाती है—परिशेष सब धर्म उसके अङ्ग अथवा उस समय अप्रधान रूपसे विवक्षित होते हैं।

उक्त भगवती प्रक्रियाकी एकाऽनेकादिविकल्पोमें भी योजना

एकाऽनेक-विकल्पादावुत्तरत्राऽपि योजयेत् ।
प्रक्रियां भङ्गिनीमेनां नयैर्नय-विशारदः ॥२३॥

'जो नय-निपुण है वह (विधि निषेधमे प्रयुक्त) इस भंगवती (सप्तभङ्गवती) प्रक्रियाको आगे भी एक-अनेक जैसे विकल्पादिकमें नयोके साथ योजित करे—जैसे सम्पूर्ण वस्तुतत्त्व कथचित् एकरूप है, कथचित् अनेकरूप है, कथचित् एकाऽनेकरूप है, कथचित् अवक्तव्यरूप है, कथचित् एकावक्तव्यरूप है, कथचिदनेकावक्तव्य-रूप है और कथचिदेकाऽनेकाऽवक्तव्यरूप है। एकत्वका अनेकत्वके साथ और अनेकत्वका एकत्वके साथ अविनाभावसम्बन्ध है, और

रूप कोई विकल्प ही बनता है, फलत सारा लोक-व्यवहार बिगड जाता है। (यदि यह कहा जाय कि जो एक है वही विभिन्न कारको तथा क्रियाओंके रूपमें परिणत होता है तो यह कहना ठीक नही है, क्योंकि) जो कोई एक है—सर्वथा अकेला एव असहाय है—वह अपनेसे ही उत्पन्न नहीं होता।—उसका उस रूपमे जनक और जन्मका कारणादिक दूसरा ही होता है, दूसरेके अस्तित्व एवं निमित्तके विना वह स्वय विभिन्न कारको तथा क्रियाओंके रूपमे परिणत नही हो सकता।

कर्म-फलादिका कोई भी द्वैत नही बनता

कर्म-द्वैतं फल-द्वैत लोक-द्वैत च नो भवेत्।
विद्याऽविद्या-द्वयं न स्याद्बन्ध-मोक्ष-द्वय तथा ॥२५॥

'(सर्वथा अद्वैत सिद्धान्तके माननेपर) कर्म-द्वैत—शुभ-अशुभ कर्मका जोडा, फल-द्वैत—पुण्य-पापरूप अच्छे बुरे फलका जोडा और लोक-द्वैत—फल भोगनेके स्थानरूप इहलोक परलोकका जोडा—नहीं बनता। (इसी तरह) विद्या-अविद्याका द्वैत (जोडा) तथा बन्ध-मोक्षका द्वैत (जोडा) भी नहीं बनता। इन द्वैतो (जोडो) मे से किसी भी द्वैतके माननेपर सर्वथा अद्वैत का एकान्त बाधित होता है। और यदि प्रत्येक जोडेकी किसी एक वस्तुका लोपकर दूसरी वस्तुका ही ग्रहण किया जाय तो उस दूसरी वस्तुके भी लोपका प्रसग आता है; क्योंकि एकके विना दूसरीका अस्तित्व नही बनता, और इस तरह भी सारे व्यवहारका लोप ठहरता है।'

हेतु आदिसे अद्वैत-सिद्धिमें द्वैतापत्ति

हेतोरद्वैत-सिद्धिश्चेद्द्वैतं स्याद्धेतु-साध्ययोः।
हेतुना चेद्विना सिद्धिर्द्वैत वाङ्मात्रतो न किम् ॥२६॥

'(इसके सिवाय यह प्रश्न पैदा होता है कि अद्वैतकी सिद्धि किसी हेतुसे की जाती है या बिना किसी हेतुके वचनमात्रसे ही ?—उत्तरमे) यदि यह कहा जाय कि अद्वैतको सिद्धि हेतुसे की जाती है तो हेतु (साधन) और साध्य दोकी मान्यता होनेसे द्वैतापत्ति खडी होती है—सर्वथा अद्वैतका एकान्त नही रहता—और यदि बिना किसी हेतुके ही सिद्धि कही जाती है तो क्या वचनमात्रसे द्वैतापत्ति नहीं होती ?—साध्य अद्वैत और वचन, जिसके द्वारा साध्यकी सिद्धिको घोषित किया जाता है, दोनोके अस्तित्वसे अद्वैतता नही रहती। और यह बात तो बनती ही नही कि जिसका स्वय अस्तित्व न हो उसके द्वारा किसी दूसरेके अस्तित्वको सिद्ध किया जाय अथवा उसकी सिद्धिकी घोषणा की जाय। अत अद्वैत एकान्तकी किसी तरह भी सिद्धि नही बनती, वह कल्पना-मात्र ही रह जाता है।'

द्वैतके बिना अद्वैत नही होता

अद्वैत न बिना द्वैतादहेतुरिव हेतुना।
सञ्ज्ञिनः प्रतिषेधो न प्रतिषेध्यादृते क्वचित् ॥२७॥

(एक बात और भी बतला देनेकी है और वह यह कि) द्वैतके बिना अद्वैत उसी प्रकार नही होता जिस प्रकार कि हेतुके बिना अहेतु नही होता, क्योकि कहीं भी सञ्ज्ञीका—नामवालेका—प्रतिषेध प्रतिषेध्यके बिना—जिसका निषेध किया जाय उसके अस्तित्व-बिना—नही बनता—द्वैत शब्द एक सञ्ज्ञी है और इसलिये उसके निषेधरूप जो अद्वैत शब्द है वह द्वैतके अस्तित्वको मान्यता-बिना नही बनता।)'

[इस प्रकार अद्वैत एकान्तका पक्ष लेनेवाले ब्रह्माद्वैत, सवेदना-द्वैत और शब्दाद्वैत जैसे मत सदोष एव बाधित ठहरते हैं।]

पृथक्त्व-एकान्तकी सदोषता

पृथक्त्वैकान्त-पक्षेऽपि पृथक्त्वादपृथक्तु तौ ।
पृथक्त्वे न पृथक्त्व स्यादनेकस्थो ह्यसौ गुणः ।।२८।।

'(अद्वैत एकान्तमे दोष देखकर) यदि पृथक्पनका एकान्त-पक्ष लिया जाय—यह माना जाय कि वस्तुतत्त्व एक दूसरेसे सर्वथा भिन्न है—तो इसमें भी दोष आता है और यह प्रश्न पैदा होता है कि पृथक्त्व-गुणसे द्रव्य और गुण पृथक् है या अपृथक् ? यदि अपृथक् हैं तब तो पृथक्त्वका एकान्त ही न रहा—वह बाधित हो गया। और यदि पृथक् हैं तो पृथक्त्व नामका कोई गुण ही नहीं बनता (जिसे वैशेषिकोने गुणोकी २४ सख्यामे अलगसे गिनाया है) क्योकि वह एक होते हुए भी अनेकोमें स्थित माना गया है और इसकी कोई पृथक्गति नहीं है—पृथक् रूपमे उसकी स्थिति न तो दृष्ट है और न स्वीकृत है, अत पृथक् कहने-पर उसका अभाव ही कहना होगा।

[यह कारिका वैशेषिको तथा नैयायिकोके पृथक्त्वैकान्त पक्षको लक्ष्य करके कही गयी है, जो क्रमश' ६ तथा १६ पदार्थ मानते हैं और उन्हे सर्वथा एक दूसरेसे पृथक् वतलाते हैं। अगली कारिकामे क्षणिकैकान्तवादी बौद्धोके पृथक्त्वैकान्तपक्षको सदोष वतलाया जाता है।]

एकत्वके लोपमें सन्तानादिक नही बनते

सतानः समुदायश्च साधर्म्यञ्च निरकुशः ।
प्रेत्य-भावश्च तत् सर्वं न स्यादेकत्व-निह्नवे ।।२९।।

'यदि-एकत्वका सर्वथा लोप किया जाय—सामान्य, सादृश्य, तादात्म्य अथवा सभी पर्यायोमे रहनेवाले द्रव्यत्वको न माना जाय—तो जो संतान, समुदाय और साधर्म्य तथा प्रेत्यभाव (मरकर परलोकगमन) निरकुश है—निर्बाध रूपसे माना

जाता है—वह सव नहीं वनता—अर्थात् क्रमभावी पर्यायोमे जो उत्तरोत्तर परिणाम-प्रवाहरूप अन्वय है वह घटित नही होता, रूप-रसादि जैसे सहभावी धर्मोमे जो युगपत् उत्पाद-व्ययको लिये हुए एकत्र अवस्थानरूप समुदाय है वह भी नही वनता, सह-धर्मियोमे समान परिणामकी जो एकता है वह भी नही वनती और न मरकर परलोकमे जाना अथवा एक ही जीवका दूसरा भव या शरीर धारण करना ही वनता है। इसी तरह वाल-युवा-वृद्धादि अवस्थाओमे एक ही जीवका रहना नही वनता और (चकारसे) प्रत्यभिज्ञान-जैसे सादृश्य तथा एकत्वके जोडरूप ज्ञान भी नही वनते।'

ज्ञानको ज्ञेयसे सर्वथा भिन्न माननेमें दोष

सदात्मना च भिन्नं चेज्ज्ञानं ज्ञेयाद् द्विधाऽप्यसत् ।
ज्ञानाऽभावे कथं ज्ञेयं बहिरन्तश्च ते द्विषाम् ॥३०॥

(इसी तरह) ज्ञानको (जो कि अपने चैतन्यरूपसे ज्ञेय-प्रमेयसे पृथक् है) यदि सत्स्वरूपसे भी ज्ञेयसे पृथक् माना जाय—अस्तित्वहीन स्वीकार किया जाय—तो ज्ञान और ज्ञेय दोनोका ही अभाव ठहरता है—ज्ञानका अभाव तो उसके अस्तित्व-विहीन होनेसे हो गया और ज्ञेयका अभाव ज्ञानाभावके कारण वन गया, क्योकि ज्ञानका जो विषय हो उसे ही ज्ञेय कहते हैं—ज्ञानके अभाव-मे वाह्य तथा अतरग किसी भी ज्ञेयका अस्तित्व (हे वीर जिन !) आपसे द्वेष रखनेवालोके यहाँ—सर्वथा पृथक्त्वैकान्तवादी वैशेषि-कादिकोके मतमे—कैसे वन सकता है ?—उनके मतसे उसकी कोई भी समीचीन व्यवस्था नही बन सकती।

वचनोको सामान्यार्थक माननेमें दोष

सामान्याऽर्था गिरोऽन्येषां विशेषो नाऽभिलप्यते ।
सामान्याऽभावतस्तेषां मृषैव सकला गिरः ॥३१॥

'दूसरोके यहाँ—बौद्धोके मतमे—वचन सामान्यार्थक हैं; क्योकि उनके द्वारा (उनकी मान्यतानुसार) विशेषका—याथात्म्यरूप स्वलक्षणका—कथन नहीं बनता है। (वचनोके मात्र सामान्यार्थक होनेसे वे कोई वस्तु नही रहते—बौद्धोके यहाँ उन्हे वस्तु माना भी नही गया—और विशेषके अभावमे सामान्यका भी कही कोई अस्तित्व नही बनता, ऐसी हालतमे सामान्यके भी अभावका प्रसग उपस्थित होता है) सामान्यका अवस्तुरूप अभाव होनेसे उन (बौद्धो) के सम्पूर्ण वचन मिथ्या ही ठहरते हैं—वे वचन भी सत्य नही रहते जिन्हे वे सत्यरूपसे प्रतिपादन करते है।'

उभय तथा अवक्तव्य एकान्तोकी सदोषता

विरोधान्नोभयैकात्म्य स्याद्वाद-न्याय-विद्विषाम्।
अवाच्यतैकान्तेऽप्युक्तिर्नाऽवाच्यमिति युज्यते ॥३२॥

'(अद्वैत और पृथक्त्व दोनो एकान्तोकी अलग-अलग मान्यता-मे दोष देखकर) यदि अद्वैत (एकत्व) और पृथक्त्व दोनोका एकात्म्य (एकान्त) माना जाय तो स्याद्वाद-न्यायके विद्वेषियोके यहाँ—उन लोगोके मतमे जो अद्वैत पृथक्त्वादि सप्रतिपक्ष धर्मो मे पारस्परिक अपेक्षाको न मानकर उन्हे स्वतत्र धर्मो के रूपमे स्वीकार करते हैं और इस तरह स्याद्वाद-न्यायके शत्रु बने हुए हैं—वह एकात्म्य नहीं बनता (उसी प्रकार जिस प्रकार कि अस्तित्व-नास्तित्वका एकात्म्य नही बनता), क्योकि उससे (वन्ध्या-पुत्रकी तरह) विरोध दोष आता है—अद्वैतैकात पृथक्त्वैकातका और पृथक्त्वैकात अद्वैतैकातका सर्वथा विरोधी होनेसे दोनोमे एकात्मता घटित नही हो सकती।'

'(अद्वैत, पृथक्त्व और उभय तीनो एकान्तोकी मान्यतामे दोष देखकर) यदि अवाच्यता (अवक्तव्यता) एकान्तको माना जाय—यह कहा जाय कि वस्तुतत्त्व एकत्व या पृथक्त्वके रूपमे सर्वथा अवाच्य (अनिर्वचनीय या अवक्तव्य) है—तो वस्तुतत्त्व

'अवाच्य है' ऐसा कहना भी नहीं बनता—इस कहनेसे ही वह 'वाच्य' हो जाता है, अवाच्य नहीं रहता, क्योंकि सर्वथा अवाच्य' की मान्यतामे कोई वचन-व्यवहार घटित ही नहीं हो सकता।'

पृथक्त्व-एकत्व एकान्तोंका अवस्तुत्व-वस्तुत्व

अनपेक्षे पृथक्त्वैक्ये ह्यवस्तु द्वय-हेतुतः।
तदेवैक्यं पृथक्त्वं च स्वभेदैः साधनं यथा ॥३३॥

'एक दूसरेकी अपेक्षा न रखनेवाले पृथक्त्व और एकत्व चूँकि हेतुद्वयसे अवस्तु हैं—एकत्व-निरपेक्ष होनेसे पृथक्त्वका और पृथक्त्व-निरपेक्ष होनेसे एकत्वका कहीं कोई अस्तित्व नहीं बनता—अतः एकत्व और पृथक्त्व सापेक्षरूपमें विरोधको प्राप्त न होनेसे उसी प्रकार वस्तुत्वको प्राप्त हैं जिस प्रकार कि साधन (हेतु)—साधन अपने पक्षधर्मत्व, सपक्षमें सत्व और विपक्षमें व्यावृत्तिरूप भेदों तथा अन्वय-व्यतिरेकरूप भेदोंके साथ सापेक्षताके कारण विरोधको न रखते हुए वस्तुत्वको प्राप्त है।'

एकत्व-पृथक्त्व एकान्तोंकी निर्दोषव्यवस्था

सत्सामान्यात्तु सर्वैक्यं पृथग्द्रव्यादि-भेदतः।
भेदाऽभेद-विवक्षायामसाधारण-हेतुवत् ॥३४॥

'(यदि यह कहा जाय कि एकत्वके प्रत्यक्ष-बाधित होनेके कारण और पृथक्त्वके सदाद्यात्मकतासे बाधित होनेके कारण प्रतीतिका निर्विषयपना है तब सब पदार्थों मे एकत्व और पृथक्त्वको कैसे अनुभूत किया जा सकता है ? तो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि) सत्ता-अस्तित्वमे-समानता होनेकी दृष्टिसे तो सब (जीवादि पदार्थ) एक हैं—इसलिये एकत्वकी प्रतीतिका विषय सत्सामान्य होनेसे वह निर्विषय नहीं है—और द्रव्यादिके भेदकी दृष्टिसे—द्रव्य, गुण और कर्मकी अथवा द्रव्य, क्षेत्र, काल और

भावकी जुदी-जुदी अपेक्षाको लेकर—सब (जीवादि पदार्थ) पृथक् हैं—इसलिये पृथक्त्वकी प्रतीतिका विषय द्रव्यादि-भेद होनेसे वह निर्विषय नही है। जिस प्रकार असाधारण हेतु अभेदकी दृष्टिसे एकरूप और भेदकी दृष्टिसे अनेकरूप है उसी प्रकार सब पदार्थों में भेदको विवक्षासे पृथक्त्व और अभेदकी विवक्षासे एकत्व सुघटित है।

विवक्षा तथा अविवक्षा सत्की ही होती है

विवक्षा चाऽविवक्षा च विशेष्येऽनन्त-धर्मिणि ।
सतो विशेषणस्याऽत्र नाऽसतस्तैस्तदर्थिभि ॥३५॥

'(यदि यह कहा जाय कि विवक्षा और अविवक्षाका विषय तो असत्रूप है तब उनके आधारपर तत्त्वकी व्यवस्था कैसे युक्त हो सकती है तो ऐसा कहना ठीक नही है, क्योकि) अनन्तधर्मा विशेष्यमें विवक्षा तथा अविवक्षा जो की जाती है वह सत् विशेषण-की ही की जाती है असत्की नहीं और यह उनके द्वारा की जाती है जो उस विशेषणके अर्थी या अनर्थी हैं—अर्थी विवक्षा करता है और अनर्थी अविवक्षा। जो सर्वथा असत् है उसके विषयमे किसी-का अर्थीपना या अनर्थीपना बनता ही नही—वह तो सकल-अर्थ-क्रियासे शून्य होनेके कारण गधेके सीगके समान अवस्तु होता है।'

एक वस्तुमें भेद और अभेदकी अविरोध-विधि

प्रमाण-गोचरौ सन्तौ भेदाऽभेदौ न सवृती ।
तावेकत्राऽविरुद्धौ ते गुण-मुख्य-विवक्षया ॥३६॥

'(हे वीर जिन !) भेद (पृथक्त्व) और अभेद (एकत्व-अद्वैत) दोनो (धर्म) सत्रूप हैं—परमार्थभूत हैं—सवृतिके विषय नहीं—कल्पनारोपित अथवा उपचारमात्र नही हैं; क्योकि दोनो प्रमाणके विषय हैं—(इसीसे) आपके मतमे वे दोनो एक वस्तुमे

गौण और मुख्यकी विवक्षाको लिये हुए एकमात्र अविरोधरूपसे रहते हैं—फलत जिनके मतमे भेद और अभेदको परस्पर निरपेक्ष माना है उनके यहाँ वे विरोधको प्राप्त होते है और बनते ही नही।'

(ऐसी स्थितिमे (१) सर्वथा भेदवादी बौद्ध, जो पदार्थो के भेदको ही परमार्थ सत्के रूपमे स्वीकार करते है—अभेदको नही, अभेदको सवृति (कल्पनारोपित) सत् बतलाते है और अन्यथा विरोधकी कल्पना करते है; (२) सर्वथा अभेदवादी ब्रह्माद्वैती आदि, जो पदार्थो के अभेदको ही तात्त्विक मानते है—भेदको नही, भेदको कल्पनारोपित बतलाते है और अन्यथा दोनोमे परस्पर विरोधकी कल्पना करते है, (३) सर्वथा शून्यवादी बौद्ध, जो भेद और अभेद दोनोमेसे किसीको भी परमार्थ सत्के रूपमे स्वीकार नही करते किन्तु उन्हे सवृति-कल्पनाका विषय बतलाते है, और (४) उभयवादी नैयायिक जो भेद और अभेद दोनोको सत्रूपमे मानते तो है, परन्तु दोनोको परस्पर निरपेक्ष बतलाते हैं; ये चारो ही यथार्थ वस्तु-तत्त्वका प्रतिपादन करनेवाले सत्यवादी नही हैं। इन सबकी दृष्टिसे इस कारिकाके अर्थका स्पष्टीकरण[1] निम्न प्रकार है —

'अभेद सत् स्वरूप ही है—सवृति (कल्पना) के विषयरूप नही, क्योकि वह भेदकी तरह प्रमाण-गोचर है। भेद सत्रूप ही है—सवृतिरूप नही, प्रमाण-गोचर होनेसे, अभेदकी तरह। भेद और अभेद दोनो सत् रूप है—सवृतिके विषयरूप नही, प्रमाण-गोचर होनेसे, अपने इष्ट तत्त्वकी तरह, और इस प्रकार एक अन्य पक्ष भी सग्रहीत होता है, क्योकि उन दोनोको सवृतिरूप बतलाने-वालो एव वस्तुको समस्त धर्मोसे शून्य माननेवालो (शून्यवादियो)

---

१ यह स्पष्टीकरण श्रीविद्यानन्दाचार्यने अपनी अष्टसहस्री-टीकामें "इति कारिकायामर्थसग्रह" इस वाक्यके साथ दिया है।

का भी सद्भाव पाया जाता है। (यहाँ इन पक्षोके अनुमानोमे जो-जो उदाहरण हैं साध्य-साधन-धर्मसे विकल (रहित) नही हैं, क्योकि भेद, अभेद, उभय और अनुभय एकान्तोके माननेवालोमे उसकी प्रसिद्धि स्याद्वादियोकी तरह पाई जाती है।) इस तरह हे वीर भगवन् ! आपके यहाँ एक वस्तुमे भेद और अभेद दोनो धर्म परमार्थसत्के रूपमे विरुद्ध नही हैं, मुख्य-गौणकी विवक्षाके कारण प्रमाण-गोचर होनेसे, अपने इष्टतत्त्वकी तरह। और इसलिये सामर्थ्यसे यह अनुमान भी फलित होता है कि जो भेद और अभेद परस्पर निरपेक्ष हैं वे विरुद्ध ही हैं, प्रमाण-गोचर न होनेसे, भेदैकान्तादिकी तरह।'

इति देवागमाप्तमीमासाया द्वितीय परिच्छेद ।

तृतीय परिच्छेद

नित्यत्व-एकान्तकी सदोपता

नित्यत्वैकान्त-पक्षेऽपि विक्रिया नोपपद्यते ।
प्रागेव कारकाऽभाव क्व प्रमाण क्व तत्फलम् ॥३७॥

'यदि नित्यत्व एकान्तका पक्ष लिया जाय—यह माना जाय कि पदार्थ सर्वथा नित्य है, सदा अपने एक ही रूपमे स्थिर रहता है—तो विक्रियाकी उपपत्ति नहीं हो सकती—अवस्थासे अवस्थान्तररूप परिणाम, हलन-चलनरूप परिस्पन्द अथवा विकारात्मक कोई भी क्रिया पदार्थमे नही बन सकती; कारकोका—कर्त्ता, कर्म, करणादिका—अभाव पहले ही (कार्योत्पत्तिके पूर्व ही) होता है—जहाँ कोई अवस्था न वदले वहाँ उनका सद्भाव बनता ही नही—

और जब कारकोंका अभाव है तब (प्रमाताका भी अभाव होनेसे) प्रमाण और प्रमाणका फल जो प्रमिति (सम्यग्ज्ञप्ति—यथार्थ जानकारी) है, ये दोनो कहाँ बन सकते हैं ?—नही बन सकते। इनके तथा प्रमाताके अभावमें 'नित्यत्व एकान्तका पक्ष लेनेवाले साङ्ख्योंके यहाँ जीवतत्त्वकी सिद्धि नही बनती और न दूसरे ही किसी तत्त्वकी व्यवस्था ठीक बैठती है।'

प्रमाण और कारकोंके नित्य होनेपर विक्रिया कैसी ?

प्रमाण-कारकैर्व्यक्तं व्यक्तं चेदिन्द्रियाऽर्थवत् ।
ते च नित्ये विकार्यं किं साधोस्ते शासनाद्बहिः ॥३८॥

'(यदि साङ्ख्यमत-वादियोंकी ओरसे यह कहा जाय कि कारणरूप जो अव्यक्त पदार्थ है वह सर्वथा नित्य है, कार्यरूप जो व्यक्त पदार्थ है वह नित्य नही, उसे तो हम अनित्य मानते हैं और इसलिए हमारे यहाँ विक्रिया बनती है, तो ऐसा कहना ठीक नही है, क्योंकि) इन्द्रियोंके-द्वारा उनके विषयकी अभिव्यक्तिके समान जिन प्रमाणो तथा कारकोंके द्वारा अव्यक्तको व्यक्त हुआ बतलाया जाता है वे प्रमाण और कारक दोनो ही जब सर्वथा नित्य माने गये हैं तब उनके द्वारा विक्रिया बनती कौन-सी है ?—सर्वथा नित्यके द्वारा कोई भी विकाररूप क्रिया नही बन सकती और न कोई अनित्य कार्य ही घटित हो सकता है। हे साधो !—वीर भगवन् !—आपके शासनके बाह्य—आपके द्वारा अभिमत अनेकान्तवादकी सीमाके बाहर—जो नित्यत्वका सर्वथा एकान्तवाद है उसमे विक्रियाके लिये कोई स्थान नहीं है—सर्वथा नित्य कारणोंसे अनित्य कार्योंकी उत्पत्ति या अभिव्यक्ति बन ही नही सकती और इसलिये उक्त कल्पना भ्रममूलक है।'

कार्यके सर्वथा सत् होनेपर उत्पत्ति आदि नही बनती

यदि सत्सर्वथा कार्यं पुंवन्नोत्पत्तुमर्हति ।
परिणाम-प्रक्लृप्तिश्च नित्यत्वैकान्त-बाधिनी ॥३९॥

'(यदि सांख्योंकी ओरसे यह कहा जाय कि हम तो कार्य-कारण-भावको मानते हैं—महदादि कार्य है और प्रधान उनका कारण है—इसलिए हमारे यहाँ विक्रियाके बननेमें कोई बाधा नही आती, तो यह कहना अनालोचित सिद्धान्तके रूपमें अविचारित है, क्योंकि कार्यकी सत् और असत् इन दो विकल्पोंके अतिरिक्त तीसरी कोई गति नही।) कार्यको यदि सर्वथा सत् माना जाय तो वह चैतन्य पुरुषकी तरह उत्पत्तिके योग्य नहीं ठहरता—कूटस्थ होनेसे उसमें उत्पत्ति जैसी कोई बात नही बनती, जिस प्रकार कि पुरुषमे नही बनती। दूसरे शब्दोमे यो कहिये कि जो सर्वथा सत् है उसके चैतन्यकी तरह कार्यत्व नही बनता, चैतन्य कार्य नही है, अन्यथा चैतन्यरूप जो पुरुष माना गया है उसके भी कार्यत्वका प्रसग आएगा। अत. जिस प्रकार सर्वथा सत्रूप होनेसे चैतन्य कार्य नही है उसी प्रकार महदादिकके भी कार्यत्व नही बनता। जब नई कार्योत्पत्ति ही नही तब विक्रिया कैसी? और कार्यको यदि सर्वथा असत् माना जाय तो उसमे सिद्धान्त-विरोध घटित होता है; क्योंकि कार्य-कारणभावकी कल्पना करनेवाले सांख्योंके यहाँ कार्य को सत्रूपमे ही माना है[1]—गगन-कुसुमके समान असत्रूपमे नही।'

'(यदि यह कहा जाय कि वस्तुमे अवस्थासे अवस्थान्तर होने रूप जो विवर्त है—परिणाम है—वही कार्य है तो इससे वस्तु परिणामी ठहरी) और वस्तुमे परिणामकी कल्पना ही नित्यत्वके एकान्तको बाधा पहुँचानेवाली है—सर्वथा नित्यत्वके एकान्तमे कोई प्रकारका परिणाम, परिवर्तन अथवा अवस्थान्तर बनता ही नही।'

---

१ 'असदकरणादुपादानग्रहणात्सर्वसंभवाभावात्। शक्तस्य (कार्यस्य) शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम्'' ॥ इति हि सांख्यानां सिद्धान्तः।'
—अष्टसहस्री पृ० १८१

न हेतु-फल-भावादिरन्यभावादनन्वयात् ।
सन्तानान्तरवन्नैकः सन्तानस्तद्वतः पृथक् ॥४३॥

'(इसके सिवाय) क्षणिकैकान्तमें पूर्वोत्तरक्षणोंके हेतुभाव और फलभाव आदि कभी नहीं बनते, क्योंकि सर्वथा अन्वयके न होनेके कारण उन पूर्वोत्तर क्षणोंमें सन्तानान्तरकी तरह सर्वथा अन्यभाव होता है। (यदि यह कहा जाय कि पूर्वोत्तर-क्षणोंका सन्तान एक है तो यह ठीक नहीं है; क्योंकि जो एकसन्तान होता

है वह सन्तानीसे पृथक नहीं होता—सर्वथा पृथक्‌रूपसे उसका अस्तित्व बनता ही नहीं।'

सवृति और मुख्यार्थकी स्थिति

अन्येष्वनन्यशब्दोऽयं संवृतिर्न मृषा कथम्।
मुख्यार्थः संवृतिर्न स्याद् विना मुख्यान्न संवृतिः ॥४४॥

'यदि (बौद्धोंकी ओरसे) यह कहा जाय कि अन्योंमें अनन्य शब्दका यह जो व्यवहार है—सर्वथा भिन्न चित्त-क्षणोंको जो सन्तानके रूपमें अनन्य, अभिन्न अथवा एक आत्मा कहा जाता है—वह संवृति है—काल्पनिक अथवा औपचारिक है, वास्तविक नहीं—तो सर्वथा संवृतिरूप होनेसे वह मिथ्या क्यों नहीं है? अवश्य ही मिथ्या है, और इसलिये उसके आधारपर सन्तान आत्मा जैसी कोई वस्तु व्यवस्थित नहीं बनती। यदि संतानको मुख्य अर्थके रूपमें माना जाय तो मुख्यार्थ होता है वह सर्वथा संवृतिरूप नहीं होता और यदि संवृतिरूपमें उसे माना जाय तो संवृति बिना मुख्यार्थके बनती नहीं—मुख्यके बिना उपचारकी प्रवृत्ति होती ही नहीं जैसे सिंहके सद्भाव-बिना सिंहका चित्र नहीं बनता।'

चतुष्कोटि-विकल्पके अवक्तव्यकी बौद्ध-मान्यता

चतुष्कोटेर्विकल्पस्य सर्वान्तेषूक्त्ययोगतः।
तत्त्वान्यत्वमवाच्यं चेत्तयोः सन्तानतद्वतोः ॥४५॥

'यदि (बौद्धोंकी ओरसे) यह कहा जाय कि चूँकि सब धर्मोंमें चतुष्कोटिविकल्पके कथनका अयोग है—तत्त्व-एकत्वादि किसी भी धर्मके विषयमें यह कहना नहीं बन सकता कि वह सत्‌रूप है या असत्‌रूप है अथवा सत् असत् दोनों (उभय) रूप है या दोनोंरूप नहीं (अनुभयरूप) है, क्योंकि सर्वथा सत् कहने पर

उनकी उत्पत्तिके साथ विरोध आता है, सर्वथा असत् कहनेपर शून्य पक्षमें जो दोष दिया जाता है वह घटित होता है, सर्वथा उभयरूप कहनेपर दोनों दोषोंका प्रसग आता है और सर्वथा अनुभय पक्षके लेनेपर वस्तु निर्विषय, नीरूप, नि स्वभाव अथवा निरुपाख्य ठहरती है और तब उसमें किसी भी विकल्पकी उत्पत्ति नही बनती—अत उन सन्तान सन्तानीका भी तत्त्व (एकत्व—अभेद) धर्म तथा अन्यत्व (नानात्व—भेद) धर्म (धर्म होनेसे) अवाच्य ठहरता है। तदनुसार उभयत्व-अनुभयत्व धर्म भी (अवाच्य ठहरते हैं), क्योंकि वस्तुके धर्मको वस्तुसे सर्वथा अनन्य (अभिन्न) कहनेपर, वस्तुमात्रका प्रसग आता है, वस्तुसे सर्वथा अन्य (भिन्न) कहनेपर व्यपदेशकी सिद्धि नही होती अर्थात् यह कहना नहीं बनता कि अमुक वस्तुका यह धर्म है, सर्वथा उभय (भिन्नाऽभिन्न) कहने पर दोनों दोष आते हैं और सर्वथा अनुभय (न भिन्न और न अभिन्न) कहनेपर वस्तु निरुपाख्य एव नि स्वभाव ठहरती है—इससे सन्तान-सन्ततिके धर्म-विषयमें कुछ भी कहना नही बनता; (तो यह कथन ठीक नही है, क्योंकि)'

अवक्तव्यको उक्त माननामें दोष

अवक्तव्यचतुष्कोटिविकल्पोऽपि न कथ्यताम् ।
असर्वान्तमवस्तु स्यादविशेष्य-विशेषणम् ॥४६॥

'तब तो (बौद्धोंको) 'चतुष्कोटिविकल्प अवक्तव्य हैं' यह भी नहीं कहना चाहिये,—क्योंकि सब धर्मोंसे उक्तिका अयोग बतलाने अर्थात् सर्वथा अवक्तव्य (अनभिलाप्य) का पक्ष लेनेपर 'चतुष्कोटिविकल्प अवक्तव्य है' यह कहना भी नही बनता, कहनेसे कथञ्चित् वक्तव्यत्वका प्रसग उपस्थित होता है और न कहनेसे दूसरोंको उसका बोध नही कराया जा सकता। ऐसी स्थितिमें उसके सर्वविकल्पातीत्व फलित होता है। जो सर्व विकल्पातीत है वह असर्वान्त (सब धर्मोंसे रहित) है और जो असर्वान्त है वह (आकाश-कुसुमके समान) अवस्तु है, क्योंकि उसके विशेष्य-

विशेषणभाव नहीं बनता—न वह विशेष्य है और न विशेषण।'

(और यदि यह कहा जाय कि स्वसंवेदनसे विशेषणविशेष्य-रहित ही तत्त्व प्रतिभासित होता है तो वह ठीक नहीं, क्योंकि स्वसंवेदनके भी सत्त्व (अस्तित्व) विशेषणकी विशिष्टतासे विशेष्य का ही अवभासन होता है। स्वसंवेदनके उत्तरकालमे होनेवाले विकल्पबुद्धिमे 'स्वका संवेदन' इस प्रकार विशेषण-विशेष्यभाव अवभासित होता है—स्वसंवेदनके स्वरूपमे नहीं। यदि यह कहा जब कि स्वसंवेदन अविशेष्य-विशेषणरूप है और वह स्वतः प्रतिभासित होता है तो इससे (भी) स्वसंवेदनमे विशेषण-विशेष्यभाव सिद्ध होता है; क्योंकि वैसा कहनेपर अविशेषणविशेष्यत्व ही विशेषण हो जाता है।)

निषेध सत्का होता है असत्का नही

द्रव्याद्यन्तरभावेन निषेधः संज्ञिनः सतः।
असद्भेदो न भावस्तु स्थानं विधि-निषेधयोः ॥४७॥

'यदि विशेषण-विशेष्यभावको सर्वथा असत् माना जाय तो उसका निषेध नही बनता, क्योंकि) जो संज्ञी (स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकी अपेक्षा) सत् होता है उसीका परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकी अपेक्षा निषेध किया जाता है, न कि असत्का। सर्वथा असत् पदार्थ तो विधि-निषेधका विषय ही नहीं होता—जो पदार्थ परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकी अपेक्षाके समान स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव-की अपेक्षासे भी असत् है वह सर्वथा असत् है, उसकी विधि कैसी? जिसकी विधि नहीं उसका निषेध नही बनता, क्योंकि निषेध विधि-पूर्वक होता है। और इसलिये जो सत् होकर अपने द्रव्यादि-की अपेक्षा कथंचित् वक्तव्य है उसीके (परद्रव्यादिकी अपेक्षा निषेध होनेसे) अवक्तव्यपना युक्त ठहरता है। और जो सत्-पदार्थ स्वद्रव्यादिकी अपेक्षा कथंचित् विशेषण-विशेष्यरूप है उसीके (परद्रव्यादिकी अपेक्षा) अविशेष्य-विशेषणपना ठीक घटित होता

अत एकान्तसे कोई वस्तु अवक्तव्य या अविशेष्य-विशेषणरूप नहीं है, ऐसा बौद्धोको जानना चाहिये।'

अवस्तुकी अवक्तव्यता और वस्तुकी अवस्तुता

अवस्त्वनभिलाप्यं स्यात्सर्वान्तैः परिवर्जितम् ।
वस्त्वेवाऽवस्तुतां याति प्रक्रियाया विपर्ययात् ॥४८॥

'जो सर्वधर्मोंसे रहित हैं वह अवस्तु है—किसी भी प्रमाणका विषय न होनेसे—और जो अवस्तु है वह (ही सर्वथा) अनभिलाप्य (अवाच्य) है न कि वस्तु, क्योंकि जो वस्तु है वह प्रमाणके द्वारा परिनिष्ठित (प्रतिष्ठित) होती है और इसलिये सर्वथा अनभिलाप्य नही होती।'

'(यदि यह कहा जाय कि सकल-धर्मोंसे रहित निरुपाख्य वस्तु स्याद्वादियोके द्वारा स्वीकृत नही है तब उनका यह वचन कि 'अवस्तु अनभिलाप्य है' युक्त नही जान पडता, तो यह कहना ठीक नही है, क्योंकि सर्वधर्मोंसे रहित अवस्तुका अनभिलाप्यरूपसे कथन पर-परिकल्पनामात्रसे सम्बन्ध रखता है, न कि प्रमाणबलसे), प्रमाणबलसे तो वस्तु ही अवस्तुताको प्राप्त होती है, प्रक्रियाके विपरीत हो जाने अथवा बदल जानेसे अर्थात् जब किसी वस्तुकी स्वद्रव्यादिचतुष्टयलक्षण-प्रक्रिया, जो कि कथंचिद्रूपको लिये हुए होती है, बदल जाती है—परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकी अपेक्षाको धारण करती है—तब वह वस्तु ही अवस्तु बन जाती है। जैसे स्वरूपसिद्ध घटके पटादि-पररूपोकी अपेक्षा—पटादिके किसी भी रूपको घट माननेकी दृष्टिसे—अघटपना है।

(यदि यह कहा जाय कि वस्तुको ही अवस्तु बतलाना परस्पर विरुद्ध है, क्योंकि वस्तु और अवस्तुकी स्थिति एक-दूसरेके परिहाररूप है—वस्तु अवस्तु नही होती और न अवस्तु कभी वस्तु बनती है—तो यह कहना ठीक नही है; क्योंकि अभाव-वाचक शब्दोके वचन-द्वारा भी भावका अभिधान (कथन) होता है, जैसे

'अब्राह्मणको लाओ' इस वाक्यमे 'अब्राह्मण' शब्द ब्राह्मण-वस्तुके अभाव (निषेध) का वाचक होते हुए भी ब्राह्मणसे भिन्न अन्य क्षत्रियादिवस्तुके अभावका वाचक नही किन्तु उनके भावका ही वाचक है और इसलिये उक्त वाक्यके द्वारा यह समझा जाता है कि 'ब्राह्मणको नही किन्तु क्षत्रियादिकको बुलाया जा रहा है,' तदनुसार ही क्षत्रियादिकको लाकर उपस्थित किया जाता है। इस तरह ब्राह्मण कोई वस्तु है उसीको 'अब्राह्मण' शब्दके-द्वारा कथचित् अवस्तु कहा गया है, सर्वथा अभावरूप अवस्तु नही, और इसलिये अवस्तुका आशय यहाँ अविवक्षित वस्तु समझना चाहिये। अविवक्षित (गौण) वस्तु विवक्षित (मुख्य) वस्तुके अस्तित्व (भाव) के बिना नही बनती (मुख्यादृते गौण-विधिर्न दृष्ट) और न स्वय अस्तित्व-विहीन होती है। इसीसे अर्हन्मतानुयायी स्याद्वादियोके यहाँ वस्तुको ही अवस्तु कहनेमे कोई विरोध नही आता—मुख्य-गौणकी व्यवस्था-विधिमे द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूप प्रक्रियाके स्वसे पर और परसे स्व-रूपमे बदल जानेसे यह सब सुघटित होता है। इसीसे कोई वस्तु सर्वथा भावरूप नही है, स्वरूपकी तरह पररूपसे भी भावका प्रसग आनेसे, और न सर्वथा अभावरूप ही है, पररूपकी तरह स्वरूपसे भी अभावका प्रसग उपस्थित होनेसे। वस्तुको सर्वथा भाव या सर्वथा अभावरूप माननेसे वस्तुकी कोई व्यवस्था ही नही बनती। प्रत्येक वस्तु भावकी तरह अभाव-धर्मको भी साथमे लिये हुए है और वह भी वस्तुकी व्यवस्थाका अग है। उसे छोड देनेपर वस्तु-व्यवस्था बन ही नही सकती। इसीलिये स्याद्वादियोके यहाँ अपेक्षावश कथचित् भावाऽभावरूपसे वस्तुका प्रतिपादन किया जाता है।)

सर्व धर्मोंके अवक्तव्य होनेपर उनका कथन नही बनता

सर्वान्ताश्चेदवक्तव्यास्तेषां किं वचन पुनः ।
संवृतिश्चेन्मृषैवैषा परमार्थ-विपर्ययात् ॥४९॥

'यदि (क्षणिक एकान्तवादी बौद्धोंके द्वारा) यह कहा जाय कि 'सर्व धर्म अवक्तव्य हैं'—सर्वथा वचनके अगोचर हैं—तो फिर उनका धर्म-देशना-रूप तथा स्वपक्षके साधन और पर-पक्षके दूषणरूप वचन कैसा ?—वह किसी तरह भी नही वन सकेगा और एकमात्र मौनका ही शरण लेना होगा, क्योकि 'सर्व धर्म अवक्तव्य हैं' इस कथनमे स्ववचन-विरोधका दोप उसी तरह सुघटित होता है जिस तरह कि कोई अपने मुखसे दूसरोको यह प्रतिपादन करे कि 'मैं सदाके लिये मौनव्रती हूँ', क्योकि उस समय वह वोल रहा है इसलिये उसका सदाके लिये मौनव्रती होना स्वय उसके उस वचनसे ही वाधित हो जाता है। सर्व धर्मोंके सर्वथा अवक्तव्य होनेपर उनकी कोई चर्चा-वार्ता नही वन सकती, उन्हे अवक्तव्य कहना भी नही वनता, अवक्तव्य कहना भी उन्हे वक्तव्य ठहराता है।'

'यदि यह कहा जाय कि उक्त वचन सवृतिरूप है—व्यवहारके प्रवर्तनार्थ उपचाररूपको लिये हुए है—तो इस सवृतिरूप वचनसे सत्यका प्रतिपादन कैसे हो सकता है ? नही हो सकता, क्योकि सवृति परमार्थके विपरीत—यथार्थताके विरुद्ध—होनेसे स्वय वौद्धोके यहाँ मिथ्या मानी गई है। सर्वधर्म जव सर्वथा अवक्तव्य है तव वे 'अवक्तव्य है' इस वचनके-द्वारा भी वक्तव्य नही वन सकते और न दूसरोको उनका तथा उनकी अवक्तव्यताका प्रत्यय (वोध) कराया जा सकता है।'

अवाच्यका हेतु अशक्ति, अभाव या अवोध ?

अशक्यत्वादवाच्य किमभावात्किमबोधतः ।
आद्यन्तोक्ति-द्वय न स्याकि व्याजेनोच्यतां स्फुटम् ॥५०॥

'यहाँ क्षणिक एकान्तवादी वौद्धोसे पूछा जाता है कि तुम्हारा यह सर्वथा अवक्तव्य कथन किस हेतुपर अवलम्बित है। क्या अशक्तिके कारण ?—कथन करनेकी सामर्थ्य न होनेसे

अवक्तव्य है ?—या अभावके कारण ?—वस्तु-धर्मका अस्तित्व न होनेसे अवक्तव्य है ? अथवा अज्ञानके कारण ?—वस्तुधर्मों-को अनभिज्ञता—अजानकारीसे अवक्तव्य है ? (इन तीन कारणोंसे भिन्न अन्य कोई कारण नहीं हो सकता, क्योंकि मौनव्रत, प्रयो-जनाभाव, भय और लज्जादिक जैसे कारणोका, जो कि इन्द्रिय-ताल्वादिकरणव्यापारकी अशक्तिमे निमित्तकारण होते हैं, अशक्तिमे ही अन्तर्भाव है।) इन तीनोमे आदि और अन्तके दो कारणोका (अशक्ति तथा अज्ञान) का कथन तो बनता नहीं, क्योंकि बौद्धोने महात्मा बुद्धको प्रज्ञापारमिताके रूपमे सर्वज्ञ माना है और उनमे क्षमा, मैत्री, ध्यान, दान, वीर्य, शील, प्रज्ञा, करुणा, उपाय और प्रमोद नामके दस बल अंगीकार किये है। ऐसी स्थितिमे उक्त दो कारणोका कथन कैसे बन सकता है ? नही बन सकता। तब तीसरा कारण ही शेष रह जाता है। अत अवक्तव्यका बहाना बनानेसे क्या ? स्पष्ट कहिये कि वस्तुतत्त्वका सर्वथा अभाव है—किसी भी वस्तुका कही कोई अस्तित्व नही है। ऐसा स्पष्ट कहनेसे मायाचारका दोप नही रहेगा, जो कि बुद्धके आप्तत्वमे बाधक पडता है, और तब इस अवक्तव्यवाद और सर्वथा अभावरूप शून्यवादमे कोई अन्तर नही रहेगा।'

क्षणिकैकान्तमे हिंसा-अहिंसादिकी विडम्बना

हिनस्त्यनभिसंधातृ न हिनस्त्यभिसंधिमत् ।
बध्यते तद्द्वयापेत चित्त बद्ध न मुच्यते ॥५१॥

'(बौद्धोके क्षण-क्षणमे निरन्वय-विनाशरूप सिद्धान्तके अनुसार) जो चित्त हिंसाके अभिप्रायसे रहित है वह तो हिंसा करता है, जो हिंसा करनेके अभिप्रायसे युक्त है वह हिंसा नहीं करता, जिसने हिंसाका कोई अभिप्राय अथवा संकल्प नहीं किया और न हिंसा ही की वह चित्त बन्धनको प्राप्त होता है और जो चित्त बन्धनको प्राप्त होता है उसकी मुक्ति नहीं होती—मुक्ति अन्य

अवद्ध-चित्तकी होती है, क्योंकि हिंसाका अभिप्राय करनेवाला चित्त वैसा अभिप्राय करनेके क्षणमे ही नष्ट हो जाता है और उत्तरक्षणमे दूसरा चित्त, जिसने हिंसाका कोई इरादा, विचार अथवा संकल्प नही किया, उस हिंसा-कार्यको करता है, उस हिंसक चित्तके तत्क्षण नष्ट हो जानेपर तीसरे क्षणमे तीसरा ही चित्त, जिसने न तो हिंसाका कोई संकल्प किया और न हिंसाकार्य ही किया, उस द्वितीय चित्तके हिंसाकर्मसे बन्धनको प्राप्त होता है और बन्धको प्राप्त हुए उस तृतीय चित्तके भी तत्क्षण नष्ट हो जानेपर उसे उस पापकर्मके बन्धनसे मुक्तिको प्राप्ति नही होती—तब मुक्ति किसको होती है ? क्या अवद्ध-चित्तको भी मुक्ति बनती है ? नही बनती। मुक्तिके बन्धपूर्वक होनेसे जब बन्धन ही नही तब बन्धनसे छुटकारा पानेरूप मुक्ति कैसी ? इस तरह बौद्धोंके यहाँ कृतकर्मके फलका नाश और अकृतकर्मके फल-भोगका प्रसग उपस्थित होता है—अर्थात् जिसने कर्म किया वह उसके फलका भोक्ता नही होता और जिसने कर्म नही किया उसे उस कर्मका फल भोगना होता है, जो कि एक उपहासका विषय है। इसके सिवाय जब बद्ध-चित्तकी मुक्ति नही होती तब मुक्तिके लिये यम-नियमादिका अनुष्ठान व्यर्थ ठहरता है।'

नाशको निर्हेतुक माननेपर दोषापत्ति

अहेतुकत्वान्नाशस्य हिंसाहेतुर्न हिंसकः।
चित्त-सन्तति-नाशश्च मोक्षो नाष्टाङ्ग-हेतुकः ॥५२॥

'(क्षणिक एकान्तवादी बौद्धमतके अनुसार नाश स्वय होता है, उसका कोई कारण नही होता, जब नाशका कोई कारण नहीं होता तब हिंसक हिंसाका हेतु नहीं ठहरता—किसीको हिंसक कहना नही बनता। इसी तरह चित्त-सन्ततिके नाशरूप जो मोक्ष माना गया है वह भी अष्टाङ्गहेतुक नहीं बनता। बौद्धोके यहाँ मोक्ष (निर्वाण) को जो सम्यक्त्व, सज्ञा, सज्ञी, वाक्काय-

विरूप-कार्यारम्भाय यदि हेतु-समागमः ।
आश्रयिभ्यामनन्योऽसावविशेषादयुक्तवत् ॥५३॥

'(बौद्धमतमें सन्तानके अभाव अथवा निरन्वय-विनाशके स्वीकार करनेसे सन्तान-सहगमार्थ कोई होता नहीं, तब) यदि बौद्धोंके द्वारा विसदृशकार्यके आरम्भके लिये हेतुका समागम इष्ट किया जाता है—इसीसे हेतुसे भिन्न वस्तुका, जो और नाशके हेतुका सम्बन्धादि रूप-अपरका व्यापार माना जाता है—तो वह हेतु-समागम नाश तथा उत्पाद दोनोंका कारण होनेसे उनका आश्रयभूत है और इसलिये अपने आश्रयी नाश और उत्पादरूप दोनों कार्योंके साथ अनन्यरूप है—जो मुद्गर-प्रहार घटनाश-कार्यका हेतु है वही कपालों (ठीकरों) के उत्पाद-कार्यका भी हेतु है दोनों कार्योंका हेतु भिन्न-भिन्न न होनेसे दोनोंके लिये अयुक्तकी भाँति—तादात्म्यको प्राप्त शीशमता और वृक्षताके कारण-कलापकी तरह—एक ही हेतुका व्यापार ठीक घटित होता है और इससे बौद्धोंका नाश-कार्य भी सहेतुक ठहरता है जिसे वे निर्हेतुक बतलाते हैं, यह एक हेतु-दोष इस हेतु-समागमकी मान्यता से उपस्थित होता है। यदि विनाशके लिये हेतुका समागम नहीं, तो उत्पादके लिये भी हेतुका समागम मत मानो, क्योंकि कार्यकी दृष्टिसे—नाश और उत्पाद दोनोंमें कोई भेद न होनेसे—एकको निर्हेतुक और दूसरेको सहेतुक बतलाना युक्ति-संगत नहीं कहा जा सकता।'

व्याख्या—बौद्धोंसे प्रश्न है कि यदि विनाश निर्हेतुक है,

उसका कोई कारण नही है, वह स्वरसत होता है, तो कारणो-(हिंसाजनक हिंसक और मोक्षहेतु सम्यक्त्वादि अष्टाङ्ग) का व्यापार किसके लिए होता है ? इस प्रश्नका वे यह समाधान करते हैं कि विसदृश-कार्यके उत्पादके लिए कारणोका व्यापार होता है। परन्तु उनका यह समाधान ठीक नही है, क्योंकि कारणोका व्यापार नाश तथा उत्पाद दोनोका जनक होनेसे आश्रय है और आश्रय अपने आश्रयीसे—उत्पाद-नाशसे—अनन्य-अभिन्न होता है, भिन्न नही। कारण कि उन दोनोमे परस्पर कोई अन्तर नही है। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कि अपृथक्-सिद्ध पदार्थोंके कारण-व्यापारमे भेद नही होता। शिशपा और वृक्ष तथा चित्रज्ञान और नीलादि-निर्भास इन अपृथक्-सिद्ध पदार्थोंसे उनका कारण-व्यापार भिन्न नही है। एक कारण-समूहसे ही उनका आत्मलाभ होता है। वास्तवमे जो पूर्वाकारका विनाश है वही उत्तराकारका उत्पाद है। अत दोनोका कारण एक ही सामग्री है, भिन्न नही। अन्यथा, वैशेषिक मतका प्रसग आवेगा। कैसा आश्चर्य है कि विसदृश-कार्यके उत्पादक कारणोसे विनाशके कारण भिन्न न होनेसे उसे तो निर्हेतुक स्वीकार किया जाता है, और विनाशके कारणोसे उत्पादके कारण भिन्न न होनेसे उसे निर्हेतुक नही माना जाता। अत नाश और उत्पादमे कोई अन्तर न होनेसे दोनोको सहेतुक या अहेतुक मानना चाहिए। एकको अहेतुक और दूसरेको सहेतुक मानना युक्तियुक्त नही है।

स्कन्धादिके स्थित्युत्पत्तिव्यय नही बनता

स्कन्ध-सन्ततयश्चैव संवृतित्वादसस्कृताः ।
स्थित्युत्पत्तिव्ययास्तेषां न स्युः खर-विषाणवत् ॥५४॥

'(जब क्षणिक एकान्तवादी बौद्धोके द्वारा विरूप-कार्यारम्भके लिये हेतुका समागम माना जाता है तब यह प्रश्न पैदा

होता है कि उस हेतुसे परमाणु-क्षण उत्पन्न होते है या स्कन्ध-सन्ततियाँ ? प्रथम पक्ष परमाणु-क्षणोका उत्पन्न होना माननेसे स्थाप्य-स्थापक और विनाश्य-विनाशकभावकी तरह हेतु-फलभावका भी विरोध उपस्थित होता है। तब सहेतुका उत्पत्ति कैसे बन सकती है ? कार्य-कारणके अभाव होनेपर ये स्थिति, उत्पत्ति और व्यय धर्म विरोधको प्राप्त होते है; क्योकि परमाणु निरश होते है। "न हेतु-फलभावादिरन्यभावादनन्वयात्' इस वाक्य-द्वारा ४३वी कारिकाके अन्तर्गत क्षणिक-एकान्तमे पहले ही कार्यकारण-भावका निषेध किया जा चुका है। स्थिति और विनाशकी तरह अहेतुका उत्पत्ति भी नही बनती, क्योकि स्थाप्य-स्थापकके अभावमे जिस प्रकार स्थितिका और विनाश्य-विनाशकके अभावमे जिस प्रकार विनाशका अभाव होता है उसी प्रकार हेतु-फलभावके अभावमे उत्पत्तिका भी अभाव होता है, तब सहेतुका उत्पत्तिकी कल्पना कैसी ? यदि दूसरा पक्ष—स्कन्ध-सन्ततियोका उत्पन्न होना—माना जाय तो) स्कन्ध-सन्ततियाँ बौद्धोके यहाँ परमार्थसत् न होनेसे असस्कृत हैं—अकार्यरूप है—तब उनके लिये हेतुका समागम कैसा ? साध्यके अभावमे साधनका भी अभाव होता है। अत (रूप, वेदना, विज्ञान, सज्ञा और सस्कार रूपमे माने गये) बौद्धोके जो पाँच स्कन्ध है वे कोई पारमार्थिक सत् न होकर सवृतिरूप-कल्पना-मात्र हैं उनके स्थिति, उत्पत्ति और विनाशका विधान गधेके सींगकी तरह नहीं बनता।—गधेके सीगका सद्भाव न होने-से जैसे उसमे स्थिति, उत्पत्ति और विनाश ये तीनो घटित नही होते वैसे ही परस्पर असबद्ध रूप-रस-गन्ध-स्पर्शके परमाणुरूप 'रूपस्कन्ध', सुख-दु खादिरूप, 'वेदनास्कन्ध' सविकल्पक और निर्विकल्पक ज्ञानके भेदरूप विज्ञानस्कन्ध, वृक्षादि वस्तुओंके नाम (शब्द) रूप सज्ञास्कन्ध और ज्ञान-पुण्य-पापकी वासनारूप सस्कार-स्कन्ध जब वास्तविक न होकर काल्पनिक हैं तो उनके स्थिति-उत्पत्ति और विनाश ये तीनो घटित नही होते और इनके घटित

न होनेसे वे कोई कार्य नही रहते तब उनके लिये हेतु-समागमकी कल्पना ही व्यर्थ ठहरती है।'

उभय तथा अवक्तव्य एकान्तोंकी सदोषता

विरोधान्नोभयैकात्म्यं स्याद्वाद-न्याय-विद्विषाम्।
अवाच्यतैकान्तेऽप्युक्तिर्नावाच्यमिति युज्यते ॥५५॥

'यदि नित्यत्व और अनित्यत्व दोनो एकान्तपक्षोंको एक रूपमे माना जाय तो यह बात स्याद्वादन्यायके विद्वेषियोंके—सर्वथा एकान्तवादियोंके—यहा बनती नहीं, क्योंकि इस मान्यतामे विरोध दोष आता है—जैसा कि एक साथ जीने-मरनेमें विरोध है वैसा ही विरोध यहाँ भी घटित होता है।'

(यदि दोनो एकान्तोंका तादात्म्य माना जाय तो नित्यत्व और अनित्यत्व दोनो या तो नित्यत्वरूपमे परिणत हो जायेंगे या अनित्यत्वरूपमे, क्योंकि तादात्म्यावस्थामे विरोधी स्थिति न रहकर एक ही स्थिति हो जाती है। जब नित्यत्व-अनित्यत्वरूप दोनो एकान्तोंमेंसे किसी एक ही एकान्तकी स्थिति रही तब युगपत् उभय एकान्तोंकी मान्यता विरुद्ध ठहरती है।)

'यदि (नित्यत्व व अनित्यत्व दोनो एकान्तोंकी मान्यतामे विरोधकी उपस्थितिके भयसे) अवाच्यता (अनभिलाप्यता) का एकान्त माना जाय तो वह भी नहीं बनता, क्योंकि सर्वथा अवाच्यका सिद्धान्त माननेपर 'तत्त्व सर्वथा अनभिलाप्य है' ऐसा अभिलाप (वचन-व्यवहार) करनेवाले बौद्धोंके स्ववचनविरोध उपस्थित होता है—उसी प्रकार जिस प्रकार कि उस पुरुषके उपस्थित होता है जो यह कहे कि 'मै सदा मौनव्रती हूँ', क्योंकि उसका वैसा कहना उसके सदा मौन-व्रतका विरोधी है।'

नित्य-क्षणिक-एकान्तोंकी निर्दोष व्यवस्थाविधि

नित्यं तत्प्रत्यभिज्ञानान्नाकस्मात्तदविच्छिदा।
क्षणिकं कालभेदात्ते बुद्ध्यसंचरदोषतः ॥५६॥

अवस्थाओं अथवा पूर्वोत्तर-पर्यायोंमें साधारण स्वभावरूपसे रहने-वाले द्रव्यकी दृष्टिसे—न तो कोई वस्तु उत्पन्न होती है और न विनाशको प्राप्त होती है, क्योंकि प्रकट अन्वयरूप है—वस्तुका सामान्य स्वरूप जो द्रव्यस्वभाव है वह उसकी सब अवस्थाओंमें सदा स्थिर रहता है।'

(यदि यह कहा जाय कि काटे हुए नख-केश फिरसे उपजते हैं, उनमें अन्वयके दर्शन-द्वारा व्यभिचार-दोष आता है, क्योंकि उनमें उत्पत्ति और विनाश दोनों दिखाई पड़ते हैं जब कि अन्वयके कारण वे दोनों न होने चाहिये थे, तो ऐसा कहना ठीक नहीं है, कारण कि अन्वयके साथ 'व्यक्त' विशेषण लगा हुआ है, जो इस बातका सूचक है कि एकत्वान्वय प्रमाणसे बाधित नहीं होना चाहिये। यहाँ ये नखादिक वे ही हैं ऐसा एकत्वान्वय प्रकट-प्रमाण-से बाधित है, क्योंकि उत्पन्न नखादिक वे ही न होकर उनके सदृश हैं जो कट चुके हैं।)

विशेषरूपसे—पर्याय अथवा व्यतिरेककी दृष्टिसे—वस्तु विनशती तथा उपजती है। एक वस्तुमें युगपत् उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यका होना 'सत्' कहलाता है—जैसाकि सूत्रकारके 'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्' इस वचनसे भी जाना जाता है।'

उत्पादादिकी भिन्नता और निरपेक्ष होनेपर अवस्तुता

कार्योत्पादः क्षयो हेतोर्नियमाल्लक्षणात्पृथक् ।
न तौ जात्याद्यवस्थानादनपेक्षाः खपुष्पवत् ॥५८॥

'हेतुका—उपादानकारणका—जो क्षय है—पूर्वाकारसे विनाश है—वह उत्तराकाररूप कार्यका उत्पाद है; क्योंकि दोनोंके एक हेतुका नियम है—जो हेतु उत्पादरूप कार्यके उत्पादका है वही उपा-दानके विनाशका हेतु है। इससे बौद्धोंका उत्पादको सहेतुक और विनाशको निर्हेतुक बतलाना बाधित ठहरता है। (इस पर यदि

यह कहा जाय कि उत्पाद और विनाश दोनोका एक ही हेतु होनेपर दोनो अभिन्न ठहरते हैं, तो यह ठीक नही, क्योकि उत्पाद और विनाश दोनो लक्षणभेदके कारण एक दूसरेसे कथंचित् भिन्न हैं—कार्योत्पादका लक्षण स्वरूपलाभ है और हेतुक्षयका लक्षण स्वभावप्रच्युति है। इस तरह भिन्न लक्षणसे लक्षित होनेके कारण दोनो कथचित् भिन्न हैं—सर्वथा भिन्न नही। जाति आदिके अवस्थानके कारण नाश और उत्पाद दोनो भिन्न ही नहीं, कथञ्चित् अभिन्न भी हैं, क्योकि मिट्टी आदि द्रव्यके बिना घटका नाश और कपालका उत्पाद नही बनता—नाश और उत्पाद दोनो पर्यायकी अपेक्षासे हैं, जात्यादिके अवस्थानरूप सद्-द्रव्यकी अपेक्षासे नही। सद्द्रव्य मिट्टी आदि है, वही घटाकार रूपसे नष्ट हुई और कपालके रूपसे उत्पन्न हुई, ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है।

यदि उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य परस्पर अपेक्षा न रखें, तो तीनो ही आकाशके पुष्पके समान अवस्तु ठहरें—स्थिति और विनाशके बिना केवल उत्पाद नही बनता, नाश और उत्पादके बिना स्थिति नही बनती और स्थिति तथा उत्पादके बिना विनाश नही बनता। इससे यह स्पष्ट फलित होता है कि जो सत् है वह उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यसे युक्त है, अन्यथा उसका सत्व ही नही बनता, वह आकाशकुसुमके सदृश अवस्तु ठहरता है।'

एक द्रव्यकी नाशोत्पादस्थितिमे भिन्न भावोकी उत्पत्ति

घट-मौलि-सुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम्।
शोक-प्रमोद-माध्यस्थ्य जनो याति सहेतुकम् ॥५९॥

'(सुवर्ण घटको तोडकर मुकुटके बनाये जानेपर) नाश उत्पाद और स्थितिकी जो अवस्थाएँ होती हैं, उनमे यह घटका अर्थी जन शोक (विषाद) को, मुकुटका अर्थी हर्षको और सुवर्णका अर्थी शोक तथा हर्षसे रहित मध्यस्थ-भावको प्राप्त होता है और

यह सब सहेतुक होता है—घटार्थीके शोकका कारण घटका नाश है, मुकुटार्थीके हर्षका कारण मुकुटका उत्पाद है और सुवर्णार्थीके मध्यस्थ-भावका कारण सुवर्णकी स्थिति है—जो सुवर्ण घटके रूपमे था वही मुकुटके रूपमे विद्यमान है, इससे उसके लिये शोक तथा हर्षका कोई कारण नही रहता। बिना हेतुके उन घट-मुकुट-सुवर्णार्थियोंके शोकादिकी उत्पत्ति नही बनती।'

(बौद्धोका जो यह कहना है कि विषादादिके कोई हेतु नही होते, किन्तु पूर्वविषादादिके वासनामात्र-निमित्तसे विषादादिक उत्पन्न होते हैं, वह ठीक नही, क्योकि पूर्वविषादादिके वासनामात्र निमित्तके होते हुए भी उन विषादादिके नियमका सभव नही।)

इस तरह लौकिक जनोकी उत्पादादि-विषयक-प्रतीतिके भेदसे यह सिद्ध है कि वस्तु उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य ऐसे तीन रूपमे व्यवस्थित है। अब एक दूसरे दृष्टान्त-द्वारा इस विषयको और स्पष्ट किया जाता है।

वस्तुतत्त्वकी त्रयात्मकता

पयोव्रतो न दध्यत्ति न पयोत्ति दधिव्रतः।
अगोरसव्रतो नोभे तस्मात्तत्त्व त्रयात्मकम् ॥ ६० ॥

'जिसके दुग्ध लेनेका व्रत है—आज मैं दूध ही लूँगा ऐसी प्रतिज्ञा है—वह दही नहीं खाता, जिसके दही लेनेका व्रत है वह दुग्ध नहीं पीता और जिसका गोरस न लेनेका व्रत है वह दूध-दही दोनों ही नहीं खाता। इससे मालूम होता है कि वस्तुतत्त्व त्रयात्मक है—युगपत् उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप है।'

व्याख्या—एक ही वस्तुमे प्रतीतिका नानापन उस वस्तुके विनाश, उत्पाद और स्थिति (ध्रौव्य) का साधक जान पडता है—जो दूधरूपसे नाशको प्राप्त हो रहा है वही दधिरूपसे उत्पद्यमान और गोरसरूपमे विद्यमान (ध्रौव्य) है, क्योकि दूध और

कर्मरूप त्रिक है उसका एक-दूसरेसे अन्यत्व इष्ट किया जाता है (तो उसमे जो बाधा आती है उसे आगे बतलाया जाता है ।)'

व्याख्या—यहाँ वैशेषिकमतानुसार 'कार्य' शब्दसे चलनादि क्रियारूप कर्मका, तन्तु आदि अवयवरूप कारणके अवयवीका, सयोगादिरूप अनित्य गुणका और प्रध्वसाभावका ग्रहण है, 'कारण' शब्द समवायीका, समवायिवान्का (कर्मवान्का, अनित्यगुणवान्-का, पटादि अवयवीका) और प्रध्वसके प्रति कारणका वाचक है, 'गुण' शब्द नित्य-गुणका, 'गुणी' शब्द गुणके आश्रयभूत द्रव्यका, 'सामान्य' शब्द पर-अपर-जातिका और 'सामान्यवान्' शब्द द्रव्य-गुण-कर्मरूप अर्थका बोधक है। वैशेषिकमतका कथन है कि क्रिया-क्रियावान्का, समवाय-समवायीका, अवयव-अवयवीका, गुण-गुणीका, विशेषण-तद्विशेष्यका, सामान्य-तत्सामान्यवान्का और अभाव तद्विशेष्यका एक-दूसरेसे सर्वथा भिन्नपना ही है; क्योकि उनका भिन्न प्रतिभास होता है, सह्याचल-विन्ध्याचलकी तरह ।

अपने इस 'भिन्नप्रतिभासत्व' हेतुको असिद्ध-विरुद्धादि दोषोसे रहित सिद्ध करनेका प्रयत्न किया गया है और उस प्रयत्नमे एक बात यह भी कही गई है कि कार्य-कारणादिका लक्षण एक दूसरेसे भिन्न है और वह भिन्न-लक्षण भिन्न प्रतिभासका हेतु है, वस्तु यदि एक है तो उसका भिन्न-लक्षणमे प्रतिभास नही होता । इससे भिन्न-प्रतिभास हेतु विरुद्ध नही है, क्योकि भिन्नलक्षणलक्षित विपक्षमे उसकी वृत्तिका अभाव है । दूसरी बात यह भी कही गई है कि जिनका ऐसा अनुमान है कि कार्य-कारणका, गुण-गुणीका तथा सामान्य-सामान्यवान्का एक-दूसरेके साथ तादात्म्य है—अभेद है, क्योकि उनका देश (क्षेत्र) अभिन्न है । जिनका तादात्म्य नही होता उनका देश अभिन्न नही होता, जैसे कि सह्याचल और विन्ध्याचलका । प्रकृत कार्य-कारणादिका देश अभिन्न है । अत उनका तादात्म्य है, और इस अनुमानसे वे कार्य-कारणादिकी

भिन्नताके एकान्तको बाधित ठहराते हैं, वह ठीक नही है, क्योकि देशाऽभेद दो प्रकारका है—एक शास्त्रीय और दूसरा लौकिक। कार्य-कारणादिका शास्त्रीय देशाऽभेद असिद्ध है—शास्त्रकी अपेक्षा-से पटादिरूप कार्यका स्वकीय कारण तन्तुसमूह और तन्तुओंका कारण कपासादि इस तरह सबका स्व-अन्य-कारणदेशकी दृष्टिसे देशभेद ही है। लौकिक देशाऽभेदका आकाश-आत्मादिके साथ व्यभि-चारदोष घटित होता है, क्योकि लौकिक देशकी अपेक्षा आकाश और आत्मादिके भिन्न-देशका अभाव होने पर भी उनका तादात्म्य नही है।

उक्त भिन्नतैकान्तमें दोष

एकस्याऽनेक-वृत्तिर्न भागाऽभावाद्बहूनि वा।
भागित्वाद्वाऽस्य नैकत्व दोषो वृत्तेरनार्हते ॥६२॥

(यदि वैशेषिकमतानुसार कार्य-कारण, गुण-गुणी और सामा-न्य-सामान्यवान्को सर्वथा एक दूसरेसे भिन्न माना जाय तो) एक-की—पटादि अवयवीरूप कार्य-द्रव्यादिकी—(अपने आरम्भक तन्तु आदि) अनेकोमे—कारणादिकमे—वृत्ति-प्रवृत्ति नही बनती, क्योकि उस एकके विभागके अभावसे निरंशपना माना गया है—जबकि वृत्ति होनी चाहिये, अन्यथा कार्य-कारणभावादिका विरोध उसी तरह घटित होगा जिस तरह अकार्य-कारणरूप तन्तु-घटका और मृत्पिण्ड-पटका कार्य-कारणभाव विरुद्ध होता है। यदि (अवयवी आदि) एकको भागिस्वरूप आश्रित करके वृत्ति मानी जाय तो इससे एकका एकत्व स्थिर नही रहता—वह विभक्त होकर बहुरूपमे परिणत हो जाता है। इसके सिवाय यह प्रश्न पैदा होता है कि एककी अनेकमे वह वृत्ति तन्तु आदिके लक्षण आधारके प्रति एकदेशरूपसे होती हैं या सर्वात्मक रूपसे? एक देशरूपमे वह नही बनती, क्योकि एक पटादि कार्यद्रव्यके निष्प्रदेश होनेसे तन्तु

आदि अनेक अधिकरणोमे उसका वर्तना नही बनता और प्रत्येकमे सर्वात्मकरूपसे वृत्तिके होने पर एक अवयवी आदिके बहुत्वका प्रसग उपस्थित होता है—जितने अवयव उतने ही अवयवी ठहरते है, जितने सयोगी आदि गुणी उतने ही अनेक अवयवोंमें स्थित संयोगादि गुण ठहरते हैं और जितने सामान्यवान् अर्थ उतने ही सामान्य होने चाहिये। परन्तु ऐसा नही है। अत एकको अनेकमे सर्वात्मक अथवा सर्वदेश वृत्ति माननेसे, आर्हतमतसे भिन्न जो सर्वथा एकान्तमत है उसमे दोष आता है। इस तरह एककी अनेकमे वृत्तिका मानना और न मानना दोनो ही सदोष ठहरते है। एकदेशरूप और सर्वात्मक वृत्तिसे भिन्न वृत्तिका अन्य कोई प्रकार नही है।'

(यदि वैशेषिकमतकी मान्यतानुसार समवाय-सम्बन्धको प्रकारान्तर माना जाय—यह कहा जाय कि समवाय-सम्बन्धके कारण अवयवी आदि अवयवादिकमे वर्तता है, बिना समवाय-सम्बन्धके वर्तनके अर्थका अभाव है तो यह कहना भी ठीक नही है, क्योकि यहाँ भी वही प्रश्न पैदा होता है कि अवयवी आदिकी अवयवादिकमे वह समवायवृत्ति एकदेश है अथवा सर्वात्मक ? और दोनोमे से किसी भी प्रकारकी समवायवृत्तिको मानने पर वही दोष घटित होता है, जिसे ऊपर बतलाया गया है।)

देश-काल-विशेषेऽपि स्याद्वृत्तिर्युत-सिद्धवत् ।
समान-देशता न स्यान्मूर्तकारण-कार्ययोः ॥६३॥

(यदि अवयवादि और अवयवी आदिमे सर्वथा भेद स्वीकार किया जाय तो) देश और कालकी अपेक्षासे भी उनमे—अवयवादि और अवयवी आदिमे—भेद मानना पड़ेगा और तब युत-सिद्धके समान—पृथक्-पृथक् आश्रयमे रहने वाले घट-वृक्षकी तरह—उनमे भी वृत्ति (समवाय-सम्बन्धकी वर्तना) माननी होगी।

(फलतः) मूर्तिक कारण और कार्योंकी जो समान (अभिन्न) देशता—एकक्षेत्र-देशता—देखी जाती है वह नहीं बन सकेगी।'

व्याख्या—अवयवादि और अवयवी आदिके सर्वथा भेद मानने पर उनमें देशभेद और कालभेद भी मानना पड़ेगा और उनका सम्बन्ध युत-सिद्धों जैसा होगा; तब उनमें अभिन्नदेशता कैसे बन सकती है? यह बात वैशेषिकोंको सोचनेकी है।

यद्यपि आत्मा और आकाशमें अत्यन्त भेद होने पर भी उनमें न देशभेद है और न कालभेद है और इसलिये यह अत्यन्तभेद कार्य-कारणके देश और कालके भेदका नियामक नहीं है, तथापि सत्, द्रव्यत्व आदि रूपसे आत्मा और आकाशमें भी अत्यन्तभेद असिद्ध है। अत एव उनके अभिन्नदेश और अभिन्नकालके होनेमें कोई बाधा नहीं है।

आश्रयाऽऽश्रयि-भावान्न स्वातन्त्र्यं समवायिनाम् ।
इत्ययुक्तः स सम्बन्धो न युक्तः समवायिभिः ॥६४॥

'यदि ऐसा कहा जाय कि समवायियोंमें—अवयव-अवयवी (तन्तु-पट) आदिमें—(समवायके द्वारा) आश्रयाऽऽश्रयीभाव होनेके कारण स्वतन्त्रता नहीं है, जिससे देश व कालकी अपेक्षा भेद होनेपर भी वृत्ति (समवाय-सम्बन्ध-वर्तना) बनती, तो यह कहना ठीक नहीं है। (क्योंकि तब यह प्रश्न उठता है कि वह समवाय समवायियोंसे स्वतः वर्तता—सम्बन्धित होता है या अन्य समवायसे वर्तित—सम्बन्धित होता है। यदि स्वतः सम्बन्धित होता है तो फिर अवयवी भी अपने अवयवोंसे स्वतः सम्बद्ध हो जायगा, उसके लिये एक अलग समवायकी व्यर्थ-कल्पनासे क्या नतीजा? यदि अन्य समवायसे वह सम्बन्धित होता है तो वह अन्य समवाय भी अन्य तृतीयसे और तृतीय भी अन्य चतुर्थसे सम्बन्धित मानना पड़ेगा और इस तरह अनेक समवायोंकी कल्पना

करनेपर एक समवायकी मान्यता बाधित ठहरेगी और अनवस्था-दोषका प्रसग भी उपस्थित होगा।)

(यदि यह कहा जाय कि समवाय अनाश्रित होनेसे सम्बन्धान्तरकी अपेक्षा नही रखता, किन्तु असम्बद्ध ही रहता है, तो यह कहना उचित नही; क्योकि) जो स्वय असम्बद्ध (सम्बन्ध रहित) है वह एक (अवयवो) का दूसरे (अवयवो) के साथ सम्बन्ध कैसे करा सकता है ? सम्बन्धरहित होनेकी हालतमे वह दूसरे (द्रव्यादि) के साथ कैसे रह सकता है ? नही रह सकता।'

सामान्यं समवायश्चाऽप्येकैकत्र समाप्तितः ।
अन्तरेणाऽऽश्रय न स्यान्नाशोत्पादिषु को विधिः ॥६५॥

'जिस प्रकार सामान्य आश्रयके विना नहीं रहता, उसी प्रकार समवाय भी आश्रयके विना नहीं रहता। जब सामान्य और समवाय दोनोकी प्रत्येक द्रव्यादि नित्य व्यक्तियोमे समाप्ति-पूर्णता होती है तब नाश हुए तथा उत्पन्न हुए अनित्य कार्योमे उनके सद्भावकी विधि-व्यवस्था कैसे बन सकती है ?—नही बन सकती।

व्याख्या—जहाँ एक व्यक्तिका उत्पाद हुआ वहाँ पहलेसे न सामान्य है और न समवाय, क्योकि उनका वहाँ कोई आश्रय नही है और ये दोनो विना आश्रयके नही रहते। अन्यथा अनाश्रित होनेका प्रसग आयेगा। यह भी सम्भव नही कि वे अन्य व्यक्तिसे पूर्णरूपमे या अशरूपमे आते हैं, क्योकि पूर्वाधारका अभाव तथा सामान्य एव समवायमे साशपनेका प्रसग आवेगा। स्वय पीछे उनका उत्पाद भी सम्भव नही है, अन्यथा वे अनित्य माने जायेंगे। आश्रयके नाश होनेपर भी उनका नाश नही होता; क्योकि वे नित्य हैं और आश्चर्य यह कि प्रत्येकमे पूर्ण रूपसे रहते हैं। साराश यह कि सामान्य और समवाय इन दोनो

पदार्थोंका नित्य व्यक्तियोंमें सत्त्व सिद्ध होने पर भी अनित्य व्यक्तियोंमें उनका सद्भाव सिद्ध नहीं होता, जबकि वैशेषिक इन दोनोंको नित्य, व्यापक और एक एवं प्रत्येकमें पूर्णरूपसे व्याप्त मानते हैं, जो स्पष्टतः युक्ति और प्रतीतिके विरुद्ध है।

सर्वथाऽनभिसम्बन्धः सामान्य-समवाययोः।
ताभ्यामर्थो न सम्बद्धस्तानि त्रीणि ख-पुष्पवत् ॥६६॥

(वैशेषिक मतानुसार) जब सामान्य और समवाय दोनोंके सर्वथा अनभिसम्बन्ध है—परस्परमें एकका दूसरेके साथ संयोगादि-रूप कोई प्रकारका भी सम्बन्ध नहीं है—तब उन दोनोंके साथ द्रव्य गुण और कर्मरूप जो अर्थ है उनका भी सम्बन्ध नहीं रहता। (और इसलिये) सामान्य, समवाय तथा अर्थ ये तीनों ही आकाश-पुष्पके समान अवस्तु ठहरते हैं क्योंकि असत्का और अवस्तुका कूर्म-रोमादिकी तरह कोई भी स्वरूप नहीं बन सकता।'

अनन्यता-एकान्तकी सदोषता

अनन्यतैकान्तेऽणूनां सङ्घातेऽपि विभागवत्।
असंहतत्वं स्याद्भूतचतुष्क-भ्रान्तिरेव सा ॥६७॥

'यदि (बौद्ध-मतानुसार) परमाणुओंकी अनन्यताका—सर्व अवस्थाओंमें स्वरूपान्तरपरिगमनरूप अन्यताके अभावका—एकान्त माना जाय तो स्कन्धरूपमें उनके मिलनेपर भी न मिलनेकी भ्रान्तिमें परस्पर असम्बद्धता रहेगी और ऐसा होने पर बौद्धों द्वारा प्रतिपादित जो भूतचतुष्क है—परमाणुओंका पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु ऐसे चार स्कन्धोंके रूपमें जो कार्य है—वह (वास्तविक न होकर) भ्रान्तरूप ही ठहरेगा। (यदि भूत-चतुष्टयको भ्रान्तिरूप न माना जायगा तो परमाणुओंका संघाता-वस्थामें रूपान्तर मानना होगा और वैसा मानने पर सर्वथा अनन्यताका एकान्त नहीं बन सकेगा।)'

कार्यकी भ्रान्तिसे कारणकी भ्रान्ति तथा उभयाभावादि

कार्य-भ्रान्तेरणु-भ्रान्तिः कार्य-लिङ्गं हि कारणम् ।
उभयाऽभावतस्तत्स्थं गुण-जातीतरच्च न ॥६८॥

भूतचतुष्करूप-कार्यके भ्रान्तिरूप होनेसे तत्कारण परमाणु भी भ्रान्तिरूप ठहरेंगे—तब वस्तुतः उनकी अस्तित्व-सिद्धि ही नहीं बन सकेगी; क्योंकि कारण कार्य-लिङ्गक होता है—कार्यसे ही उसे जाना जाता अथवा अनुमान किया जाता है। कार्य-कारण दोनोंके भ्रान्तिरूप अभावमें उनमें रहनेवाले गुण-जाति क्रियादिक भी नहीं बन सकेंगे—जैसे गगनकुसुमोंके अभावमें उनकी कोई गन्ध भी नहीं बन सकती।

कार्य-कारणादिके एकत्व माननेपर दोष

एकत्वेऽन्यतराभावः शेषाऽभावोऽविनाभुवः ।
द्वित्व-संख्या-विरोधश्च संवृतिश्चेन्मृषैव सा ॥६९॥

यदि सांख्यमतानुसार कार्य-कारणादिका सर्वथा एकत्व माना जाय—कार्य जो महत् आदि और कारण जो प्रधान दोनोंका तादात्म्य अंगीकार किया जाय—तो एककी मान्यतापर दूसरेका अभाव ठहरेगा—प्रधानरूप कारणकी मान्यतापर महत् आदिरूप कार्यकी पृथक् कोई मान्यता नहीं बन सकेगी, दोनोंके सर्वथा एक होनेसे। साथ ही कार्यके अभावपर शेष जो कारण उसका भी अभाव ठहरेगा, क्योंकि कार्यका कारणके साथ अविनाभाव-सम्बन्ध है, कारण कार्यकी अपेक्षा रखता है, सर्वथा कार्यका अभाव होनेपर कारणत्व बन नहीं सकता और इस तरह सबके अभावका प्रसंग उपस्थित होता है। इसके सिवाय, (यदि यह कहा जाय कि महत् आदि कार्यका प्रधानरूप-कारणमें अनुप्रवेश हो जानेसे उत्तर-सृष्टिक्रमकी अपेक्षा पृथक्सत्तारूप

भेदका अभाव होनेपर भी कारण तो एक रहता ही है—नित्य होनेसे उसका अभाव नहीं होता, तो) दोकी संख्याका विरोध उपस्थित होता है—कार्य और कारण सर्वथा एक होनेपर यह कार्य है और यह कारण है ऐसे दोकी संख्याका निर्देश नहीं बन सकता, जैसे कि वस्तुके सर्वथा एक होनेपर उसमें कार्य-कारण-भाव नहीं बनता।

यदि द्वित्व-संख्याको संवृतिरूप कल्पित अथवा औपचारिक ही माना जाय तो यह संवृति (परमार्थके विपरीत होनेसे) जब मृषा ही है तब द्वित्व-संख्या भी मृषा ही ठहरती है—ऐसी स्थितिमें प्रधानकी जानकारी तब कैसे हो सकेगी? प्रत्यक्षसे वह हो नहीं सकती, क्योंकि प्रधान प्रत्यक्षका विषय नहीं। अनुमानसे भी नहीं हो सकती, क्योंकि अभ्रान्त लिङ्गका अभाव है। आगमसे भी नहीं बन सकती, क्योंकि शब्दको भी भ्रान्तरूप माना गया है, और भ्रान्तलिङ्गसे अभ्रान्त साध्यकी सिद्धि होती नहीं, सिद्धि माननेपर अतिप्रसंग-दोष उपस्थित होता है।'

(इसी प्रकार पुरुष और चैतन्य जो आश्रय-आश्रयीरूप हैं उनकी एकता माननेपर एक दूसरेका अभाव ठहरता है, पुरुषमें चैतन्यके अनुप्रवेशपर पुरुषमात्रका और चैतन्यमें पुरुषके अनुप्रवेश-पर चैतन्यमात्रका प्रसंग उपस्थित होता है और इससे सांख्यमता-नुयायिओंके यहाँ सर्वथा एकत्वकी मान्यतापर पुरुष और चैतन्य इन दोमेंसे किसी एकका अभाव सिद्ध होता है। दोमेंसे एकका अभाव होनेपर शेषका भी अभाव ठहरता है; क्योंकि दोनोंमें परस्पर अविनाभाव-सम्बन्ध है। पुरुष आश्रय है और चैतन्य स्वभाव उसका आश्रयी है—आश्रयके बिना आश्रयीका और आश्रयीके बिना आश्रयका कोई अस्तित्व नहीं बनता। दोनोंके सर्वथा एक होनेपर द्वित्व-संख्या भी नहीं बनती और द्वित्वसंख्यामें संवृतिकी कल्पना करनेपर शून्यताका प्रसंग आता है, क्योंकि

परमार्थत द्वित्वसख्याके अभावपर सख्येय जो पुरुष और चैतन्य उनकी भी कोई व्यवस्था नही बनती—ऐसी कोई वस्तु ही सम्भव नही जो सकलधर्मोसे शून्य हो। अत साख्योका यह कार्य-कारणादिकी अनन्यताका एकान्त भी वैशेपिकोके अन्यता एकान्तकी तरहसे नही बन सकता।'

उक्त उभय तथा अवक्तव्य एकान्तोकी सदोषता

विरोधान्नोभयैकात्म्य स्याद्वाद-न्याय-विद्विषाम् ।
अवाच्यतैकान्तेऽप्युक्तिर्नाऽवाच्यमिति युज्यते ॥७०॥

'यदि कार्य-कारणादिकी अन्यता और अनन्यताके दोनो एकान्त एक साथ माने जांय तो वे स्याद्वाद न्यायके विद्वेषियोंके—सर्वथा एकान्तवादियोंके—यहाँ युगपत् नहीं बन सकते, क्योंकि उनमे परस्पर विरोध होनेसे उनका एकात्म्य अथवा तादात्म्य असभव है। यदि अवाच्यता (अनभिलाप्यता) का एकान्त माना जाय—कार्य-कारणादिका भेद-अभेद सर्वथा अवाच्य है ऐसा कहा जाय—तो यह कहना भी नहीं बन सकता; क्योंकि इस कहनेसे वह वाच्य (अभिलाप्य) हो जाता है। और जब यह कहना भी नहीं बन सकता तब अवाच्यतैकान्त-सिद्धान्तका परको प्रतिपादन कैसे बन सकता है ? नहीं बन सकता।

(यदि बौद्धोके द्वारा यह कहा जाय कि परमार्थसे तो वचन-द्वारा किसी भी पदार्थ अथवा सिद्धान्तका प्रतिपादन नही बनता—सवृतिके द्वारा ही बनता है, तो सवृतिके स्वय मिथ्या होनेसे उसके द्वारा सत्यसिद्धान्तादिका प्रतिपादन कैसे बन सकता है ? नही बन सकता। अत' सवृतिरूप-वचनके द्वारा प्रतिपादन करनेपर भी अवाच्यताका एकान्त स्थिर नही रह सकता।)

एकता और अनेकताकी निर्दोष व्यवस्था

द्रव्य-पर्याययोरैक्यं तयोरव्यतिरेकत ।
परिणाम-विशेषाच्च शक्तिमच्छक्ति-भावतः ।।७१।।

संज्ञा-संख्या-विशेषाच्च स्वलक्षण-विशेषतः ।
प्रयोजनादिभेदाच्च तन्नानात्वं न सर्वथा ।।७२।।

'द्रव्य और पर्याय दोनो (कथचित्) एक हैं, क्योकि इनके (प्रतिभासका भेद होनेपर भी) अव्यतिरेकपना है—अशक्य-विवेचन होनेसे सर्वथा भिन्नताका अभाव है। तथा द्रव्य और पर्याय (कथचित्) नानारूप हैं—एक दूसरेसे भिन्न हैं, क्योकि दोनोमे परिणाम-परिणामीका भेद है, शक्तिमान-शक्तिभावका भेद है, संज्ञा (नाम) का भेद है, सख्याका भेद है, स्वलक्षणका भेद है और प्रयोजनका तथा आदि शब्दसे काल एव प्रतिभासका भेद है। इससे द्रव्य और पर्याय दोनो सर्वथा एकरूप नही और न सर्वथा नानारूप ही हैं—दोनोमे कथचित् भेदाऽभेदरूप अनेकान्तत्व प्रतिष्ठित है।'

व्याख्या—यहाँ 'द्रव्य' शब्दसे गुणी, सामान्य तथा उपादान-कारणका और 'पर्याय' शब्दसे गुण, व्यक्ति-विशेष तथा कार्य-द्रव्यका ग्रहण है। 'अव्यतिरेक' शब्द अशक्य-विवेचनका वाचक है, जिसका अभिप्राय यह है कि एक द्रव्यको अन्य द्रव्यरूप तथा एक द्रव्यकी पर्यायको अन्य-द्रव्यकी पर्यायरूप नही किया जा सकता अथवा विवक्षित द्रव्यको उसकी पर्यायसे और विवक्षित पर्यायको उसके द्रव्यसे सर्वथा अलग नही किया जा सकता। इस तरह द्रव्य और पर्याय दोनो एक वस्तु हैं; जैसे वेद्य और वेदकका ज्ञान, जिसे प्रतिभासका भेद होनेपर भी सर्वथा भेदरूप नही किया जा सकता।

यदि ब्रह्माद्वैतवादियोकी मान्यतानुसार पर्यायको अवास्तव और द्रव्यको वास्तव बतलाकर पर्यायका तथा बौद्धोकी मान्यता-

नुसार द्रव्यको अवास्तव और पर्यायको वास्तव बतलाकर द्रव्यका अभाव माना जाय तो द्रव्य-पर्याय दोनोमेसे किसीका भी सद्भाव नही बन सकेगा—अर्थक्रिया-लक्षण-वस्तुमे पदार्थको तब कोई उपपत्ति अथवा व्यवस्था ही नही बन सकेगी, क्योकि पर्याय-निरपेक्ष केवल द्रव्य और द्रव्यनिरपेक्ष केवल पर्याय अर्थ-क्रियाका निमित्त नही होता, निमित्त माननेपर क्रम-यौगपद्यका विरोध उपस्थित होगा— सर्वथा एकस्वभावरूप, द्रव्य या पर्यायके क्रम-यौगपद्य घटित नही होता, क्रम-यौगपद्यके घटित न होनेपर अर्थ-क्रिया नही बनती और अर्थ-क्रियाके न बननेपर वस्तुका अस्तित्व न रहकर अभाव ठहरता है। अत द्रव्य और पर्याय दोनोमेसे किसीका भी लोप करनेपर दूसरेका भी लोप उपस्थित होता है और वस्तुतत्त्वकी कोई व्यवस्था नही बन सकेगी।

द्रव्यका लक्षण गुण-पर्यायवान् है, जैसा कि 'गुण-पर्ययवद् द्रव्यस्' इस तत्त्वार्थसूत्रसे जाना जाता है, जिसमे गुण सहभावी (युगपत्) और पर्याय क्रमभावी होते हैं। पर्यायका लक्षण 'तद्भाव परिणाम' सूत्रके अनुसार तद्भाव—उस उस प्रति-विशिष्टरूपसे होना—है, जो कि क्रमाऽक्रमरूपमे होता है। क्रमश परिणमनको 'पर्याय' और अक्रम (युगपत्) परिणमनको 'गुण' कहते हैं। द्रव्य और पर्याय दोनोकी यह लक्षण-भिन्नता दोनोके कथञ्चित् नानापनको सिद्ध करती है।

इस तरह द्रव्य और पर्यायमे कथंचित् नानापना ही है, स्व-लक्षणके भेदसे, कथंचित् एकपना ही है, अशक्य-विवेचनके कारण, कथंचित् उभयपना ही है, दोनोकी क्रमार्पित-विवक्षासे, कथंचित् अवक्तव्यपना है, दोनोंके सहार्पणकी दृष्टिसे। शेष तीन भगोको भी इसी प्रकारसे घटित कर लेना चाहिये।

इति देवागमाप्त-मीमासाया चतुर्थ परिच्छेद ।

है—वस्तुत इनमें कोई भी व्यवस्थित नही होता। इस तरहकी आपेक्षिकी सिद्धि माननेपर नील-स्वलक्षण और नीलज्ञान ये दोनो भी व्यवस्थित नही होते, क्योंकि दोनो विशेषण-विशेष्यकी तरह आपेक्षिक हैं। जिनकी सर्वथा आपेक्षिक-सिद्धि होती है उनकी कोई व्यवस्था नही है, जैसे परस्पर एक दूसरेको पकडे हुए नदीमे डूबनेवाले दो मनुष्योंकी कोई व्यवस्था नही बनती—(दोनों ही डूबते हैं।) वैसे ही नील और नील-ज्ञानमे सर्वथा अपेक्षाकृत-सिद्धिकी बात है—नीलज्ञानके बिना नील सिद्ध नही होता, अज्ञेयत्वका प्रसग आनेसे और तथा-सवेदन-निष्ठ होनेसे और नीलकी अपेक्षाके बिना नीलज्ञान सिद्ध नही होता; क्योंकि नील-ज्ञानके नीलसे आत्मलाभ बनता है, अन्यथा नीलज्ञानके निर्विषयत्वका प्रसग आता है और बौद्धोंने ज्ञानको निर्विषय माना नही। इस तरह एकके अभावमे दूसरेका भी अभाव होनेसे नील और नीलज्ञान दोनोंका ही अभाव ठहरता है। जब ज्ञान और ज्ञेय दोनों ही न रहे तब सर्व-शून्यताका प्रसग उपस्थित होता है।

आपेक्षिक-सिद्धिके एकान्तमे दोष देखकर यदि योग-मतवादी यह कहे कि 'धर्म-धर्मीकी सर्वथा आपेक्षिक-सिद्धि नही किन्तु अनापेक्षिक-सिद्धि है, क्योंकि धर्म-धर्मीके प्रतिनियत-बुद्धिका विषयपना है, नीलादिके स्वरूपकी तरह। सर्वथा अनापेक्षिकत्वका अभाव होनेपर प्रतिनियत-बुद्धिका विषयपना नही बनता, तो यह कहना ठीक नही है, क्योंकि सर्वथा अनपेक्षा-पक्षमे भी अन्वय-व्यतिरेक घटित नही होते। अन्वय सामान्यको और व्यतिरेक विशेषको कहते है, दोनों परस्पर अपेक्षाके रूपमे ही तिष्ठते है, दोनोंकी सर्वथा अनापेक्षिक-सिद्धि माननेपर न सामान्य स्थिर रहता है और न विशेष। प्रतिनियतबुद्धि-विषयोंमे भी प्रतिनियत-पदार्थता सापेक्षरूपमे होती है, नील-पीतकी तरह। नील और पीतकी अनापेक्षिक-सिद्धि माननेपर यह नील है, यह पीत है ऐसा निश्चय नही बनता।

उक्त उभय तथा अवक्तव्य एकान्तोकी सदोषता

विरोधान्नोभयैकात्म्यं स्याद्वाद-न्याय-विद्विषाम् ।
अवाच्यतैकान्तेऽप्युक्तिर्नाऽवाच्यमिति युज्यते ॥७४॥

'यदि आपेक्षिक-सिद्धि और अनापेक्षिक-सिद्धि दोनोका एकान्त माना जाय तो वह स्याद्वादन्यायसे द्वेष रखनेवालोके—उस न्याय-का आश्रय न लेनेवाले सर्वथा एकान्तवादियोके—यहाँ नहीं बनता, क्योकि दोनो एकान्तोमे परस्पर विरोध है—उनकी युगपत् विवक्षा सदसत् (भावाऽभाव) एकान्तकी तरह नही बनती। यदि (विरोधके भयादिसे) अवाच्यताका एकान्त माना जाय—सिद्धिको सर्वथा अवाच्य कहा जाय—तो यह अवाच्य कहना भी नहीं बनता, क्योकि इस कथनमे ही वह कथचित् वाच्य हो जाती है, और उससे सर्वथा अवाच्यताका सिद्धान्त बाधित ठहरता है।'

उक्त आपेक्षिकादि एकान्तोकी निर्दोष-व्यवस्था

धर्म-धर्म्यविनाभावः सिद्ध्यत्यन्योऽन्य-वीक्षया ।
न स्वरूपं स्वतो ह्येतत् कारक-ज्ञापकाऽङ्गवत् ॥७५॥

'धर्म और धर्मीका अविनाभाव-सम्बन्ध ही एक दूसरेकी अपेक्षासे सिद्ध होता है न कि स्वरूप—स्वरूप तो अपने कारण-कलापसे धर्म-धर्मीकी विवक्षासे पूर्व ही सिद्धत्वको प्राप्त है, क्योकि वह स्वतः सिद्ध है, कारक और ज्ञापकके अङ्गोकी तरह—जैसे कारकके दो अग (अवयव) कर्ता-कर्म और ज्ञापकके दो अग बोध्य-बोधक (वेद्य-वेदक अथवा प्रमेय-प्रमाण) ये अपने अपने स्वरूप-विषयमे दूसरे अगकी (कर्ता कर्मकी और कर्म कर्ताकी बोध्य-बोधककी, बोधक बोध्यकी) अपेक्षा नही रखते—अन्यथा —अपेक्षा-द्वारा एकके स्वरूपको दूसरेके आश्रित माननेपर दोनोके ही अभावका प्रसग उपस्थित होता है। परन्तु कर्ता-कर्मका और ज्ञाप्य-ज्ञापकका व्यवहार परस्पर एक दूसरेकी अपेक्षाके बिना

नही बनता—व्यवहारके लिये पारस्परिक अपेक्षा आवश्यक है—स्वरूपके लिये नही।'

इस तरह धर्म-धर्मिभूत सकल पदार्थोंकी कथचित् आपेक्षिकी सिद्धि है—अविनाभावरूप व्यवहारकी दृष्टिसे, कथचित् अनापेक्षिकी सिद्धि है—पूर्व प्रसिद्ध स्वरूपकी दृष्टिसे, कथचित् उभयी सिद्धि है—अपेक्षा-अनपेक्षारूप दोनो धर्मोके क्रमार्पितकी दृष्टिसे, कथचित् अवक्तव्या सिद्धि है—उक्त दोनो धर्मोके सहार्पित (युगपत्कथन) की दृष्टिसे। शेष 'आपेक्षिकी' और 'अवक्तव्या' आदि भगोको भी इसी प्रकार घटित करके यहाँ भी सप्तभगी प्रक्रियाकी योजना कर लेनी चाहिये, जो कि नयविशेषकी दृष्टिसे पूर्ववत् अविरुद्ध है।

इति देवागमाप्त-मीमासाया पचम परिच्छेद।

षष्ठ परिच्छेद

सर्वथा हेतुसिद्ध तथा आगमसिद्ध एकान्तोकी सदोषता

सिद्धं चेद्धेतुतः सर्वं न प्रत्यक्षादितो गतिः।
सिद्धं चेदागमात्सर्वं विरुद्धार्थ-मतान्यपि ॥७६॥

'यदि (केवल अनुमानवादी बौद्धोके मतानुसार) सब कुछ (एकान्तत) हेतुसे ही सिद्ध माना जाय—हेतुके बिना किसी भी कार्य-कारणादिरूप तत्त्वकी सिद्धि–निश्चितिको अगीकार न किया जाय—तो प्रत्यक्षादिसे फिर कोई गति—सिद्धि, व्यवस्थिति अथवा ज्ञानकी प्राप्ति—नहीं बन सकेगी (और ऐसा होनेपर हेतुमूलक अनुमानज्ञान भी नही बन सकेगा; क्योकि अनुमानके लिये धर्मीका,

देखकर) अवाच्यताका एकान्त माना जाय तो तत्त्वसिद्धि निश्चय-से 'अवाच्य' है ऐसा कहना भी नहीं बन सकेगा—ऐसा कहनेसे ही वह वाच्य हो जानेके कारण स्ववचन-विरोधका प्रसग उपस्थित होता है।'

हेतु तथा आगमसे निर्दोषसिद्धिकी दृष्टि

वक्तर्यनाप्ते यद्धेतोः साध्यं तद्धेतु-साधितम् ।
आप्ते वक्तरि तद्वाक्यात्साध्यमागम-साधितम् ॥७८॥

'वक्ताके आप्त न होनेपर जो (तत्त्व) हेतुसे साध्य होता है वह हेतु-साधित (युक्तिसिद्ध) कहा जाता है और वक्ताके आप्त होनेपर जो तत्त्व उस आप्तके वाक्यसे साध्य होता है उसे आगम-साधित (शास्त्रसिद्ध) समझना चाहिये।'

व्याख्या—यहाँ आप्त और अनाप्तके स्वरूपको मुख्यतासे ध्यानमें लेनेकी जरूरत है। आप्तका स्वरूप इस ग्रन्थके प्रारम्भकी कुछ कारिकाओंमें विस्तारके साथ बतलाया जा चुका है, जिसका फलित-रूप इतना ही है कि जो वीतराग तथा सर्वज्ञ होनेसे युक्ति-शास्त्रके अविरोधरूप यथार्थ वस्तुतत्त्वका प्रतिपादक एवं अवि-सवादक है वह आप्त है और जो आप्तके इस स्वरूपसे भिन्न अथवा विपरीतरूपको लिये हुए विसवादक है वह आप्त नहीं—अनाप्त है। तत्त्वके प्रतिपादनका नाम अविसवाद है जो सम्यग्ज्ञान से बनता है। जो तत्त्वका—यथार्थ वस्तुतत्त्वका—प्रतिपादन करता है वह अविसवादक है और इसलिये उसका ज्ञान सम्यक्ज्ञान होना चाहिए, जो कि अबाधित-व्यवसायरूप होता है और जिसके प्रत्यक्ष (साक्षात्) तथा परोक्ष (असाक्षात्) ऐसे दो भेद हैं। सशय, विपर्यय और अनध्यवसाय इन तीनों अज्ञानोंका नाश इस सम्यग्ज्ञानका फल है। ऐसी स्थितिमें उक्त-लक्षण-आप्तका वचन

सिद्ध होनेपर आगमसिद्ध उसीप्रकारसे प्रमाण होता है जिस प्रकार कि हेतुसिद्ध ।

इति देवागमाप्त-मीमामाया षष्ठ परिच्छेद ।

सप्तम परिच्छेद

अन्तरगार्थता-एकान्तकी बौद्ध-मान्यता सदोष

अन्तरङ्गार्थतैकान्ते बुद्धि-वाक्य मृषाऽखिलम् ।
प्रमाणाभासमेवातस्तत् प्रमाणादृते कथम् ॥७९॥

'यदि (विज्ञानाद्वैतवादी बौद्धोके मतानुसार) अन्तरगार्थता-का एकान्त माना जाय—अन्तरग जो स्वसविदित ज्ञान उसीके वस्तुता स्वीकार की जाय और बहिरग जो प्रतिभासके अयोग्य जड है उसके वस्तुता न मानी जाय—तो बुद्धिरूप अनुमान और वाक्यरूप आगम सब मिथ्या ठहरते हैं। जब मिथ्या ठहरते हैं तब वे प्रमाणाभास ही हुए, क्योकि प्रमाण सत्यसे और प्रमाणा-भास मिथ्या(मृषा)से व्याप्त होता है। और प्रमाणाभासका व्यवहार बिना प्रमाणका अस्तित्व अङ्गीकार किये कैसे बन सकता है ?—नही बन सकता। अत अन्तरगार्थताके एकान्तकी मान्यता दूषित है। उसे अनुमानादि किसी भी प्रमाणसे सिद्ध नही किया जा सकता, और जब सिद्ध नही किया जा सकता तो दूसरोको उसकी प्रतीति भी नही कराई जा सकती।'

(जो ग्राह्य-ग्राहकाररूप है वह सब भ्रान्त है, ऐसी सवेदना-द्वैतकी मान्यतासे सवेदनाद्वैत भी भ्रान्त ठहरता है, क्योकि स्वरूपका ज्ञान भी वेद्य-वेदक-लक्षणका अभाव होनेपर घटित

नही होता। सबके भ्रान्त होनेपर साध्य-साधनका ज्ञान भी सम्भव नही हो सकता। उसके सत्यरूपमे सम्भव होनेपर सर्वविभ्रमकी सिद्धि नही बनती।)

विज्ञप्ति-मात्रताके एकान्तमें साध्य-साधनादि नही बनते

साध्य-साधन-विज्ञप्तेर्यदि विज्ञप्ति-मात्रता।
न साध्यं न च हेतुश्च प्रतिज्ञा-हेतु-दोषत ॥८०॥

'यदि साध्य और साधन (हेतु) की विज्ञप्ति (ज्ञान) के विज्ञप्तिमात्रता मानी जाय—ज्ञानके अतिरिक्त अन्य कुछ नही ऐसा कहा जाय—तो साध्य, हेतु और द्वितीय चकारसे दृष्टान्त ये तीनो नहीं बनते, क्योंकि ऐसा कहनेमे प्रतिज्ञादोष और हेतुदोष उपस्थित होता है—प्रतिज्ञासे स्ववचन-विरोध आता है और हेतु-प्रयोग असिद्धादि दोषोंसे दूषित ठहरता है।'

व्याख्या—साध्य-युक्त पक्षके वचनको 'प्रतिज्ञा' और साधनके वचनको 'हेतु' कहते हैं। संवेदाद्वैतवादी (बौद्ध) अपने संवेदनाद्वैत-तत्त्वको सिद्ध करनेके लिये कहते हैं कि नीला पदार्थ और नीले-का ज्ञान ये अभेद रूप हैं, क्योंकि इनकी एक साथ उपलब्धिका नियम है (सहोपलम्भ-नियमात्)। जैसे नेत्रविकारीके दो चन्द्रमा-का दर्शन होते हुए भी चन्द्रमा वास्तवमे एक ही है वैसे ही नीला पदार्थ और नीलज्ञान दो न होकर ज्ञानाद्वैतरूप एक ही वस्तु है। इस कथनमे प्रतिज्ञा-दोष जो घटित होता है वह स्ववचन-विरोध है, क्योंकि अपने द्वारा कहे हुए नीला-पदार्थरूप धर्म-धर्मीके भेदका और हेतु तथा दृष्टान्त दोनोके भेदका अद्वैतके साथ विरोध है। सर्वथा अद्वैत-एकान्तकी मान्यतामे इनका कहना नही बनता और इसलिये साध्य-साधनादिके भेदरूप ज्ञानके अभेदरूप विज्ञाना-द्वैतताका कथन करनेवालेके स्ववचन-विरोधरूप प्रतिज्ञा-दोष सुघटित होता है।

हेतु-दोष यह घटित होता है कि उक्त हेतु नील और नील-ज्ञानकी पृथक् उपलब्धिके अभावसे नील और नीलज्ञान-भेदके अभावको सिद्ध करता है, जो कि असिद्ध है, क्योकि दोनो अभावो-मे परस्पर सम्बन्ध सिद्ध नही है—सम्बन्धका अभाव उसी प्रकार है जिस प्रकार कि गधे और सीगमे सम्बन्धका अभाव है। जो हेतु साध्यके साथ अविनाभाव-सम्बन्ध न रखता हो वह साध्यको सिद्ध करनेमे समर्थ नही होता और इसलिये असिद्धहेतु कहलाता है।

यदि यह कहा जाय कि 'जिस प्रकार अग्निके अभावसे धूम-का अभाव और व्यापक (वृक्ष) के अभावसे व्याप्य (शीशम)-का अभाव सिद्ध किया जाता है, उसी प्रकार नील और नील-ज्ञानकी पृथक् उपलब्धिके अभावसे दोनोके भेदका अभाव सिद्ध किया जाता है, इसलिये हमारा हेतु असिद्ध नही है' तो यह कहना ठीक नही है, क्योकि धूम और अग्निका कार्य-कारणभाव-सम्बन्ध सिद्ध होनेपर ही कारणके अभावमे कार्यका अभाव सिद्ध होता है तथा शीशम और वृक्षके व्याप्य-व्यापक-सम्बन्ध होनेपर ही व्यापकके अभावमे व्याप्यका अभाव सिद्ध होता है, अन्यथा नही—अर्थात् कार्य-कारणका और व्याप्य-व्यापकका यदि पहलेसे अस्तित्व सिद्ध नही है तो कारणके अभावमे कार्यका और व्यापकके अभावमे व्याप्यका अभाव सिद्ध नही होता। इस प्रकार भेद और पृथक् उपलब्धिका सम्बन्ध चूँकि विज्ञानाद्वैतवादियोके विरोधदोषके कारण सिद्ध नही बनता, जिससे पृथक् उपलब्धिका अभाव (सहोपलम्भ-नियमरूप) हेतु भेदाऽभावको सिद्ध करे इसलिये उनका उक्त पृथक् उपलब्धिका अभावरूप हेतु निश्चित नही—असिद्ध है।

वहिरगार्थता—एकान्तकी सदोषता

वहिरङ्गार्थतैकान्ते प्रमाणाभास-निह्नवात् ।
सर्वेषां कार्यसिद्धिः स्याद्विरुद्धार्थाऽभिधायिनाम् ॥८१॥

'यदि वहिरगार्थताका एकान्त माना जाय—ज्ञानको कोई परमार्थ वस्तु न मानकर वाह्य पदार्थको ही वस्तु माना जाय—तो इससे प्रमाणाभासका—सशयादिरूप मिथ्याज्ञानका—लोप होता है, और प्रमाणाभासके लोपसे सभी विरूद्ध अर्थका प्रतिपादन करनेवालोंके कार्य-सिद्धि ठहरेगी—संवेदनाऽद्वैतवादी, ब्रह्माऽद्वैतवादी आदि किसी भी एकान्तवादी अथवा प्रत्यक्षादिके सर्वथा विरुद्ध कथन करनेवालोको तव मिथ्यादृष्टि या असत्यवादी नही कहा जा सकेगा, यह दोप आएगा।'

उक्त उभय तथा अवक्तव्य एकान्तोंकी सदोषता

विरोधान्नोभयैकात्म्य स्याद्वाद-न्याय-विद्विषाम् ।
अवाच्यतैकान्तेऽप्युक्तिर्नाऽवाच्यमिति युज्यते ॥८२॥

'अन्तरंग और वहिरग ज्ञेयरूप दोनो एकान्तोका एकात्म्य (सहाऽभ्युपगम) स्याद्वाद-न्यायके विद्वेषियोके विरुद्ध है और इसलिये उनके उभय-एकान्तका सिद्धान्त नहीं वनता। अन्तरगार्थ और बहिरगार्थ दोनो एकान्तोंकी अवाच्यताका एकान्त माननेपर 'अवाच्य है' यह उक्ति भी नही वनती—अवाच्यतैकान्तके विरुद्ध पडती है।'

उक्त दोनो एकान्तोंमे अपेक्षा-भेदसे सामजस्य

भाव-प्रमेयाऽपेक्षायां प्रमाणाभास-निह्नवः ।
बहिःप्रमेयाऽपेक्षायां प्रमाण तन्निभ च ते ॥८३॥

'(हे अर्हन् भगवन्!) आपके मतमे भावप्रमेयकी अपेक्षा—स्वसवेदन-प्रमाणके द्वारा सव कुछ प्रत्यक्ष होनेपर—और वाह्य-प्रमेयकी अपेक्षा—इन्द्रियज्ञानके द्वारा प्रत्यक्ष होनेपर—प्रमाण तथा प्रमाणाभास दोनो वनते हैं—जहाँ विसवाद होता है अथवा वाधा आती है वहाँ प्रमाणाभास वनता है और जहाँ विसवाद न होकर

निर्बाधता होती है वहाँ प्रमाण बनता है। इस तरह प्रमाण-अप्रमाणकी व्यवस्थारूपसे कोई विरोध नही आता, क्योकि एक ही जीवके आवरणके अभावविशेषके कारण सत्य-असत्य-प्रतिभासरूप संवेदन-परिणामकी सिद्धि उसी प्रकार बनती है जिस प्रकार कि किट्ट-कालिमाके अभावविशेषके कारण सुवर्णका उत्कृष्ट-जघन्य परिणाम बनता है।'

यदि कोई कहे कि जीव कोई वस्तु ही नही है तो यह कहना नही बन सकता, क्योकि जीवके ग्राहक (अस्तित्व-सूचक) प्रमाण-का सद्भाव है, उसीको अगली कारिकामे बतलाया जाता है।

जीव शब्द संज्ञा होनेसे सबाह्यार्थ है

जीव-शब्दः सबाह्यार्थः संज्ञात्वाद्धेतु-शब्दवत् ।
मायादि-भ्रान्ति-संज्ञाश्च मायाद्यैः स्वैः प्रमोक्तिवत् ॥८४॥

जीव-शब्द बाह्यार्थ-सहित है—बाह्यमे जीवशब्दका वाच्य अर्थ स्वरूप-लक्षण-विशिष्ट जीव-वस्तु है—**क्योकि यह शब्द संज्ञा (नाम) है, जो शब्द संज्ञा या नामरूप होता है वह बाह्य अर्थके बिना नहीं होता, जैसे हेतु-शब्द**—अग्निमान् आदिके अनुमानमे प्रयुक्त हुआ धूम (धुआँ) आदि संज्ञात्मक हेतु-शब्द धुआँ आदि नामधारी बाह्य-पदार्थके अस्तित्वके बिना नही होता, सब ही हेतु-वादी हेतु-शब्दको बाह्यार्थ-सहित मानते हैं, अन्यथा हेतु और हेत्वाभासमे कोई भेद नही बन सकता।

(यदि यहाँ कोई कहे कि माया (इन्द्रजाल) आदि भ्रान्तिकी संज्ञाएँ हैं, जिनका कोई बाह्यार्थ नही है अतः संज्ञापना हेतु अने-कान्तिक है—व्यभिचारी है—उससे जीव-शब्दका बाह्यार्थ होना अनिवार्य (लाज़िमी) नही ठहरेगा, तो यह कहना ठीक नही है क्यो-कि) **मायादि जो भ्रांतिकी संज्ञाएँ हैं वे भी प्रमाणोक्तिके समान अपने अर्थको साथमे लिये हुए हैं। जिस प्रकार** प्रमाण-वचनका ज्ञान-लक्षण बाह्यार्थ है उसी प्रकार मायादि भ्रान्ति-संज्ञाओका भी

वाह्यार्थ भ्रान्ति-विषयक विशिष्ट-प्रतिपत्ति है—भ्रान्ति-सज्ञाओका भ्रान्तिरूप अर्थका अभाव माननेपर भ्रान्ति-सज्ञासे भ्रान्ति-प्रतिपत्तिका योग नही वन सकेगा और उस योगके न वननेसे प्रमाणत्व-प्रतिपत्तिका प्रसग उपस्थित होगा। अर्थात् भ्रान्तिको भी सम्यक्-ज्ञान मानना पडेगा जो इष्ट तथा अवाधित नही। इससे खरविषाण (गधेके सीग), खपुष्प (गगनकुसुम) आदि शब्दोका भी स्वार्थ-रहित होना वाधित हो जाता है। उनका स्वार्थ अभाव है, उसको न माननेपर खर-विषाणादिके भावका प्रसग उपस्थित होगा। अत इन खरविषाणादिके साथ भी उक्त सज्ञात्व-हेतुका व्यभिचार नही है।'

सज्ञात्व-हेतुमें व्यभिचार-दोपका निराकरण

बुद्धि-शब्दाऽर्थ-सज्ञास्तास्तिस्रो बुद्ध्यादिवाचिकाः ।
तुल्या बुद्ध्यादिवोधाश्च त्रयस्तत्प्रतिविम्बिकाः ॥८५॥

'(यदि कोई मीमासक-मतानुसारी यह कहे कि अर्थ, शब्द और ज्ञान ये तीनो वरावरकी सज्ञाएँ हैं[1], जीव-अर्थ जीव-शब्द और जीव-बुद्धि तीनोकी 'जीव' सज्ञा होनेपर अर्थ-पदार्थक जीव-शब्द ही सवाह्यार्थ प्रसिद्ध है—वुद्धि-पदार्थक तथा शब्द-पदार्थक नही, ऐसी स्थितिमे सज्ञापना हेतुके विपक्षमे भी व्यापनेसे व्यभिचार दोप आता है, क्योकि सज्ञात्व-हेतुको वुद्धि, शब्द और अर्थादिक विशेषणसे रहित सामान्य-रूपसे हेतु कहा गया है, तो ऐसा कहनेवाले भी यथार्थवादी नही हैं, क्योकि) **बुद्धि, शब्द और अर्थ तीनोकी सज्ञाएँ और बुद्धि-आदिसज्ञा-जनित बुद्धि-आदि-विषयक तीनो वोध भी सर्वत्र स्वव्यतिरिक्त बुद्ध्यादि विषयके प्रतिविम्वक होते हैं**—उच्चारित-शब्दसे जो (अव्यभिचरित) निश्चित-वोध होता है वही उसका स्वार्थ है, अन्यथा शब्दके

---

१ अर्थाऽभिधान-प्रत्ययास्तुल्यनामान इति।

लिये सुननेको मिलता है) और प्रमाताका प्रमाण (जो सुने हुए वाक्यके अर्थावबोधको लेकर वक्ताके अभिधेय-विषयमे योग्य-अयोग्य अथवा सत्य-असत्यका निर्णय करता है) ये तीनो एक दूसरेसे पृथक् जाने जाते हैं—भिन्न-भिन्न प्रतिभासित होते है— ऐसी स्थितिमे विज्ञानाद्वैतता बाधित ठहरती है, 'सज्ञात्वात्' हेतुके असिद्धताका दोष नही आता और न 'हेतु-शब्दवत्' इस दृष्टान्तके साध्य-विकलताका प्रसग ही उपस्थित होता है।

(इसपर यदि यह कहा जाय कि बाह्य अर्थका अभाव होनेसे वक्ता, श्रोता और प्रमाता ये तीनो बुद्धि (ज्ञान) से पृथक्-भूत नही हैं, वक्तादिके आभास-आकाररूप परिणत हुई बुद्धिके ही वक्ता आदिका व्यवहार होता है, वाक्यके अवतारका भी बोध (बुद्धि) के बिना कही कोई अस्तित्व नही बनता और प्रमाण स्वय बोधरूप है ही। अत (वक्तादित्रयके बुद्धिसे पृथग्भूत न होनेके कारण) उक्त हेतुके असिद्धतादि दोष बराबर घटित होता है, तो यह कहना ठीक नही है, क्योकि) रूपादिग्राहक वक्ता तथा श्रोताके, व्यतिरिक्त-विज्ञानसन्तान-कलापके और स्वाश (ज्ञान)-मात्रावलम्बी प्रमाणके विभ्रमकी कल्पना किये जानेपर रूपादिकी पूर्णत असिद्धि होती है और उस असिद्धिसे अन्तर्ज्ञेय जो ज्ञानाद्वैत है उसकी मान्यता विरुद्ध पडती है—रूपादिककी, अभिधेयकी, ग्राहक वक्ता तथा श्रोताकी विभ्रम-रूप कल्पना किये जानेपर व्यतिरिक्त-विज्ञानका जो सन्तानकलाप है वह स्वाशमात्रग्राही सिद्ध नही होता, क्योकि स्वाशमात्रावलम्बी ज्ञानोंके परस्पर असचार है—स्वरूपका गमकत्व नही बनता— जिससे अभिधान-ज्ञान और अभिधेय-ज्ञानका भेद होवे। स्वाश-मात्रावलम्बी ज्ञानको भी यदि विभ्रम रूप माना जावे तो प्रमाणकी सिद्धि नही बनती, क्योकि, बौद्धोके यहाँ अभ्रान्त ज्ञानको प्रमाण माना गया है[1]। प्रमाणकी भी विभ्रम-रूपसे कल्पना किये

१ प्रत्यक्ष कल्पनापोढमभ्रान्तमिति वचनात्।

बोध-वाक्य-प्रमा पृथक्' इस कारिकामे कहे गये वक्ता, श्रोता, प्रमाता तीनो और इनके बोध-वाक्य-प्रमाण ये तीनो भी सिद्ध होते हैं, और इसलिये जीव-शब्दके बाह्यार्थ-साधनमे दिये गये सज्ञात्व-हेतुके असिद्धता तथा अनैकान्तिकताका दोष घटित नही होता और न 'हेतुशब्दवत्' इस दृष्टान्तके साधनधर्मवैकल्य ही घटित होता है, जिससे जीवकी सिद्धि न होवे—जीवकी सिद्धि उक्त हेतु और दृष्टान्त दोनोसे होती है। जीवके अर्थको जानकर प्रवृत्ति करनेवालेके सवाद-विसवादकी सिद्धि सिद्ध होती ही है।)

इति देवागमाऽऽप्त-मीमासायां सप्तम परिच्छेद ।

अष्टम परिच्छेद

दैवसे सिद्धिके एकान्तकी सदोषता

दैवदेवार्थसिद्धिश्चेद्दैव पौरुषतः कथम् ।
दैवतश्चेदनिर्मोक्षः पौरुष निष्फल भवेत् ॥८८॥

'यदि (मीमासकमतानुसार) दैवसे ही अर्थकी—सपूर्णप्रयोजनरूप कार्यकी—सिद्धि मानी जाय तो फिर दैवरूप कार्यकी सिद्धि पौरुषसे—कुशलाऽकुशल-समाचरण-लक्षण-पुरुषव्यापारसे—कैसे कही जा सकती है ?—नही कही जा सकती, क्योकि वैसा कहनेसे प्रतिज्ञाको हानि पहुँचती है अर्थात् यह कहना बाधित होता है कि 'सर्व-अर्थकी सिद्धि दैवसे होती है'। यदि पौरुषसे दैवकी सिद्धि न मानकर दैवान्तरसे दैवकी सिद्धि मानी जाय तो फिर मोक्षका अभाव ठहरता है—क्योकि पूर्व पूर्व दैवसे उत्तरोत्तर दैवकी प्रवृत्ति तब समाप्त नही हो सकेगी—और मोक्षके अभावसे तत्कारणभूत पौरुष निष्फल हो जाता अथवा व्यर्थ ठहरता है।'

(यदि यह कहा जाय कि पुरुषार्थसे दैवका क्षय होनेपर मोक्षकी सिद्धि होती है अतः पुरुषार्थको निष्फल नहीं कहा जा सकता, तो फिर वही प्रतिज्ञा-हानि उपस्थित होती है—पुरुषार्थसे मोक्ष-प्राप्तिको स्वीकार कर लेनेपर सब कुछ दैवसे उत्पन्न (सिद्ध) होता है इस प्रकारकी जो प्रतिज्ञा है वह स्थिर नहीं रहती—बाधित ठहरती है। इसपर यदि मीमांसकोंके द्वारा यह कहा जाय कि मोक्ष-कारण-पौरुषके भी दैवकृत होनेसे परंपरासे मोक्ष भी दैवकृत सिद्ध होता है, इसमें प्रतिज्ञा-हानिकी कोई बात नहीं तो यह कहना ठीक नहीं; क्योंकि तब पौरुषसे ही वैसे दैवका सिद्ध होना ठहरता है, इसलिये दैवका एकान्त स्थिर नहीं रहता। दूसरे धर्मसे ही अभ्युदय तथा निःश्रेयस-सिद्धिकी जो एकान्त-मान्यता है वह बाधित ठहरती है। और तीसरे, उनके द्वारा मान्य महेश्वरकी सिसृक्षा (सृष्टि रचनेकी इच्छा) के व्यर्थ होनेका प्रसंग उपस्थित होता है—अर्थात् सृष्टिकी उत्पत्तिके दैवाधीन होनेसे इस प्रकारके वचनोंका कहना नहीं बनता कि 'यह अज्ञ प्राणी अपनेको सुख-दुःख प्राप्त करनेमें असमर्थ है, ईश्वरकी इच्छासे प्रेरित हुआ ही स्वर्ग या नरकको जाता है'।)

पौरुषसे सिद्धिके एकान्तकी सदोषता

पौरुषादेव सिद्धिश्चेत् पौरुषं दैवतः कथम् ।
पौरुषाच्चेदमोघं स्यात् सर्व-प्राणिषु पौरुषम् ॥८९॥

'यदि पौरुषसे ही सब कुछ सिद्धिका एकान्त माना जाय तो यह प्रश्न पैदा होता है कि पौरुषरूप कार्यकी सिद्धि कैसे? उसे यदि दैवसे कहा जाय—पुण्य-पापरूप दैवकी सम्पत्तिके आश्रित बतलाया जाय—तो यह कहना उक्त एकान्तको माननेपर कैसे बन सकता है? नहीं बन सकता, क्योंकि इससे प्रतिज्ञा-हानिका—स्वीकृत एकान्तसिद्धान्तको बाधा पहुँचनेका—प्रसंग उपस्थित होता है तथा उक्त एकान्त स्थिर नहीं रहता। यदि बुद्धि-व्यव-

सायात्मक पौरुष (पुरुषार्थ) की सिद्धिको पौरुषसे ही माना जाय तो सब प्राणियोंमे पौरुष अमोघ ठहरेगा—किसीका भी पौरुष तब (बाधक कारणान्तरके न होनेसे) निष्फल नही जायगा—परन्तु यह प्रत्यक्षके विरुद्ध है; क्योकि समान-पुरुषार्थ करनेवालोंके भी एकका पुरुषार्थ सफल और दूसरेका निष्फल होता देखा जाता है, ऐसे इस मान्यतामे व्यभिचार-दोष आता है।'

(यदि यह कहा जाय कि पुरुषार्थ दो प्रकारका है—एक सम्यग्ज्ञानपूर्वक और दूसरा मिथ्याज्ञानपूर्वक। मिथ्याज्ञानपूर्वक पुरुषार्थमे व्यभिचार आने अथवा उसके सफल न होनेपर भी सम्यग्ज्ञानपूर्वक जो पुरुषार्थ है वह सफल होता है अत सच्चा (सम्यग्ज्ञानपूर्वक) पुरुषार्थ सफल ही होता है, तो यह कहना भी ठीक नही है, क्योकि ऐसा कहनेवाले चार्वाकमतवालोके दृष्टकारण-सामग्रीके सम्यग्ज्ञानपूर्वक पुरुषार्थमे भी व्यभिचार-दोष दिखलाई पडता है—खेती आदिकी सफलताके दृष्ट-कारणोका सम्यग्ज्ञान होते हुए भी किसीको तत्पूर्वक खेती आदि करनेपर सफलता नही मिलती। और अदृष्टताको प्राप्त (अदृश्य) कारण-कलाप प्रत्यक्ष-रूपसे सम्यग्ज्ञान अल्पज्ञोके असम्भव है अत तत्पूर्वक पुरुषार्थ उनके बनता नही। यदि अनुमानादि-प्रमाणान्तरसे उस ज्ञानका सम्भव माना जाय तो इसमे दो विकल्प उत्पन्न होते हैं—एक तो यह कि वह अदृश्य-कारणकलाप कारण-शक्तिका विशेष है अथवा पुण्य-पापका विशेष है। यदि उसे कारण-शक्तिका विशेष कहा जाय तो उस शक्ति-विशेषका सम्यग्ज्ञान होने पर भी तत्पूर्वक पुरुषार्थके व्यभिचार दोष दिखलाई पडता है; जैसे क्षीणायुष्क-मनुष्यमे औषधशक्ति-विशेषके सम्यग्ज्ञानपूर्वक भी उस औषधिको पिलाने आदिका जो पुरुषार्थ किया जाता है वह उपयोगी नही होता—निष्फल जाता है। इससे सर्व-प्राणियोमे पुरुषार्थके अमोघत्वकी सिद्धि नही बनती। और यदि उस अदृश्य-कारण-कलापको पुण्य-पापादिका विशेष माना जाय तो दैवकी सहायतासे

हुए पौरुषसे ही फलकी सिद्धि ठहरेगी। इधर दैवके सम्यग्ज्ञान-पूर्वक उपायसे उपेयकी व्यवस्थिति और उधर दैवके अपरिज्ञान-पूर्वक भी कदाचित् फलकी उपलब्धि देखनेमे आती है इससे सम्यग्ज्ञानपूर्वक पुरुषार्थका एकान्त भी ठीक नही है।)

उभय तथा अवक्तव्य-एकान्तोंकी सदोषता

विरोधान्नोभयैकात्म्य स्याद्वाद-न्याय-विद्विषाम् ।
अवाच्यतैकान्तेऽप्युक्तिर्नाऽवाच्यमिति युज्यते ॥९०॥

'स्याद्वादन्यायके विद्वेषियोके दैव और पौरुष दोनो एकान्तो-का एकात्म्य नहीं बनता, क्योकि इनमे परस्पर विरोध है (इन दोनो एकान्तोकी) अवाच्यताका एकान्त माननेपर उन्हे अवाच्य कहना भी नहीं बनता है—कहनेमे स्ववचन-विरोध घटित होता है।

दैव-पुरुषार्थ-एकान्तोकी निर्दोष विधि

अबुद्धिपूर्वाऽपेक्षायामिष्टाऽनिष्ट स्वदैवतः ।
बुद्धिपूर्वव्यपेक्षामिष्टाऽनिष्ट स्वपौरुषात् ॥९१॥

'जो इष्ट या अनिष्ट— अनुकूल वा प्रतिकूल—कार्य अपने बुद्धि-व्यापारकी अपेक्षा रखे विना ही घटित अथवा उपस्थित होता है उसे स्वदैवकृत समझना चाहिये—क्योकि उसमे पौरुष गौण और दैव प्रधान है। और जो इष्ट या अनिष्ट कार्य अपने बुद्धिव्यापारकी अपेक्षा रखकर घटित अथवा उपस्थित होता है उसे स्वपौरुषकृत समझना चाहिये, क्योकि उसमे दैव गौण और पौरुष प्रधान है।'

व्याख्या—दैव और पुरुषार्थ दोनोकी व्यवस्था एक दूसरेकी अपेक्षाको साथमे लिये हुए है, एकके अभावमे दूसरेकी व्यवस्था नही बनती। वस्तुत दोनोके सयोगसे ही कार्यसिद्धि होती है,

अन्यथा वह नही वनती। अत दोनोमेसे किसीका भी एकान्त ठीक न होकर स्याद्वाद-नीतिको लिये हुए अनेकान्त-दृष्टि ही श्रेयस्कर है—दैव-पौरुष-विषयक सारे विवादको शान्त करने-वाली है। और इसलिये सव कुछ कथंचित् दैवकृत है, अवुद्धिपूर्वकी अपेक्षासे, कथचित् पौरुषकृत है, वुद्धिपूर्वकी अपेक्षासे, कथचित् उभयकृत है, क्रमार्पित दैव-पौरुष दोनोकी अपेक्षासे, कथचित् दैवकृत और अवक्तव्यरूप है, अवुद्धिपूर्वकी अपेक्षा तथा सहार्पित दैव-पौरुषकी अपेक्षासे; कथचित् पौरुषकृत और अवक्तव्यरूप है, वुद्धिपूर्वकी अपेक्षा तथा सहार्पित-दैव-पौरुषकी अपेक्षासे; कथचित् उभय और अवक्तव्यरूप है, क्रमार्पित-दैव-पौरुष और सहार्पित-दैव-पौरुषकी अपेक्षासे। इस तरह सप्तभगी प्रक्रिया यहाँ भी पूर्ववत् जाननी।

इति देवागमाऽऽप्तमीमासायामष्टम परिच्छेद ।

नवम परिच्छेद

परमें दु ख-सुखसे पाप-पुण्यके एकान्तकी सदोषता

(इष्ट-अनिष्टके साधनरूप जो दैव है वह दो प्रकारका है—एक पुण्य और दूसरा पाप। यह दोनो प्रकारका दैव कैसे उत्पन्न होता है, इस विषयके विवादका प्रदर्शन और निराकरण करते हुए आचार्यमहोदय लिखते हैं —)

पाप ध्रुव परे दुःखात् पुण्य च सुखतो यदि ।
अचेतनाऽकषायौ च वध्येयातां निमित्ततः ॥९२॥

'यदि परमे दु खोत्पादनसे निश्चित (एकान्तत) पापवन्धका होना और सुखोत्पादनसे (एकान्तत) पुण्यवन्धका होना माना

कभी-कभी दृष्टिपथसे वाहरका कोई जीव अचानक कूदकर पैर-तले आ जाता है और उनके उस पैरसे दवकर मर जाता है। कायोत्सर्गपूर्वक ध्यानावस्थामे स्थित होनेपर भी यदि कोई जीव तेजीसे उडा-चला आकर उनके शरीरसे टकरा जाता है और मर जाता है तो इस तरह भी उस जीवके मार्गमे वाधक होनेसे वे उसके दु खके कारण वनते हैं। अनेक निर्जितकषाय ऋद्धिधारी वीतरागी साधुओके शरीरके स्पर्शमात्रसे अथवा उनके शरीरको स्पर्श की हुई वायुके लगनेसे ही रोगीजन निरोग हो जाते है और यथेष्ट सुखका अनुभव करते हैं। ऐसे और भी वहुतसे प्रकार हैं जिनमे वे दूसरोके सुख-दु खके कारण वनते हैं। यदि दूसरोंके सुख-दु खका निमित्त कारण वननेसे ही आत्मामे पुण्य-पापका आस्रव-वन्ध होता है तो फिर ऐसी हालतमे वे कषाय-रहित साधु कैसे पुण्य-पापके वन्धसे वच सकते हैं? यदि वे भी पुण्य पापके वन्धनमे पडते हैं तो फिर निर्वन्ध अथवा मोक्षकी कोई व्यवस्था नही वन सकती, क्योकि वन्धका मूलकारण कषाय है। कहा भी है—"कषायमूल सकल हि वन्धनम्" "सकषायत्वाज्जीव. कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते स वन्ध।" और इसलिये अकषायभाव मोक्षका कारण है। जव अकषायभाव भी वन्धका कारण हो गया तव मोक्षके लिए कोई कारण नही रहता। कारणके अभावमे कार्यका अभाव हो जानेसे मोक्षका अभाव ठहरता है। और मोक्षके अभावमे वन्धकी भी कोई व्यवस्था नही वन सकती, क्योकि वन्ध और मोक्ष जैसे सप्रतिपक्ष धर्म परस्परमे अविनाभाव-सम्वन्धको लिये होते हैं—एकके विना दूसरेका अस्तित्व वन नही सकता, यह वात इससे पूर्व कारिकाकी व्याख्यामे भली प्रकार स्पष्ट की जा चुकी है। जव वन्धकी कोई व्यवस्था नही वन सकती तव पुण्य-पापके वन्धकी कथा ही प्रलापमात्र हो जाती है। अत. चेतन-प्राणियोकी दृष्टिसे भी पुण्य-पापकी उक्त एकान्त-व्यवस्था सदोष है।

यहाँ पर यदि यह कहा जाय कि उन अकषाय-जीवोंके दूसरो-को सुख दुःख पहुँचानेका कोई संकल्प या अभिप्राय नहीं होता, उस प्रकारकी कोई इच्छा नहीं होती और न उस विषयमें उनको कोई आसक्ति ही होती है, इसलिये दूसरोंके सुख-दुःखकी उत्पत्ति-में निमित्तकारण होनेसे वे बन्धको प्राप्त नहीं होते, तो फिर 'दूसरेमें दुःखोत्पादन पापका और सुखोत्पादन पुण्यका हेतु है' यह एकान्त सिद्धान्त कैसे बन सकता है?—अभिप्रायाभावके कारण अन्यत्र भी दुःखोत्पादनसे पापका और सुखोत्पादनसे पुण्यका बन्ध नहीं हो सकेगा, प्रत्युत इसके विरोधी अभिप्रायके कारण दुःखो-त्पत्तिमें पुण्यका और सुखोत्पत्तिमें पापका बन्ध भी हो सकेगा। जैसे एक डाक्टर सुख पहुँचानेके अभिप्रायसे पूर्ण सावधानीके साथ फोड़ेका ऑपरेशन करता है परन्तु फोड़ेको चीरते समय रोगीको कुछ अनिवार्य दुःख भी पहुँचाता है, इस दुःखके पहुँचनेसे डाक्टर-को पापका बन्ध नहीं होगा इतना ही नहीं, बल्कि उसकी दुःख-विरोधिनी भावनाके कारण यह दुःख भी पुण्य-बन्धका कारण होगा। इसी तरह एक मनुष्य कषायभावके वशवर्ती होकर दुःख पहुँचानेके अभिप्रायसे किसी कुबड़ेको लात मारता है, लातके लगते ही अचानक उसका कुबड़ापन मिट जाता है और वह सुख-का अनुभव करने लगता है, कहावत भी है—'कुबड़े गुण लात लग गई"—तो कुबड़ेके इस सुखानुभवसे लात मारनेवालेको पुण्य-फलकी प्राप्ति नहीं हो सकती—उसे तो अपनी सुखविरोधिनी भावनाके कारण पाप ही लगेगा। अतः यह एकान्त सिद्धान्त कि 'परमें सुख-दुःखका उत्पादन पुण्य-पापका हेतु है' पूर्णतया सदोष है, और इसलिये उसे किसी तरह भी वस्तुतत्त्व नहीं कह सकते।

स्वमें दुःख-सुखसे पुण्य-पापके एकान्तकी सदोषता

पुण्यं ध्रुवं स्वतो दुःखात्पापं च सुखतो यदि ।
वीतरागो मुनिर्विद्वांस्ताभ्यां युञ्ज्यान्निमित्ततः ॥९३॥

'यदि अपनेमे दु खोत्पादनसे पुण्यका और सुखोत्पादनसे पापका बन्ध ध्रुव है—निश्चितरूपसे होता है—ऐसा एकान्त माना जाय, तो फिर वीतराग (कषायरहित) और विद्वान् मुनिजन भी पुण्य-पापसे बँधने चाहिये; क्योंकि ये भी अपने सुख-दु:खकी उत्पत्तिके निमित्तकारण होते हैं।'

व्याख्या—वीतराग और विद्वान् मुनिके त्रिकाल-योगादिके अनुष्ठान-द्वारा कायक्लेशादिरूप दु खकी और तत्त्वज्ञानजन्य सन्तोषलक्षणरूप सुखकी उत्पत्ति होती है। जब अपनेमे दु ख-सुखके उत्पादनसे ही पुण्य-पाप बँधता है तो फिर ये अकषाय-जीव पुण्य-पापके वन्धनसे कैसे मुक्त रह सकते हैं? यदि इनके भी पुण्य-पापका ध्रुव वन्ध होता है तो फिर पुण्य-पापके अभावको कभी अवसर नही मिल सकता और न कोई मुक्त होनेके योग्य हो सकता है—पुण्य-पापरूप दोनो वन्धोके अभावके बिना मुक्ति होती ही नही। और मुक्तिके बिना वन्धनादिककी भी कोई व्यवस्था स्थिर नही रह सकती; जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है। यदि पुण्य-पापके अभाव बिना भी मुक्ति मानी जायगी तो ससृतिके—ससार अथवा सासारिक जीवनके—अभावका प्रसग आएगा, जो पुण्य-पापकी व्यवस्था माननेवालोमेसे किसीको भी इष्ट नही है। ऐसी हालतमे आत्म-सुख-दु खके द्वारा पाप-पुण्यके वन्धनका यह एकान्त सिद्धान्त भी सदोष है।

यहाँ पर यदि यह कहा जाय कि अपनेमे दु ख-सुखकी उत्पत्ति होने पर भी तत्त्वज्ञानी वीतरागियोके पुण्य-पापका वन्ध इसलिये नही होता कि उनके दु ख-सुखके उत्पादनका अभिप्राय नही होता, वैसी कोई इच्छा नही होती और न उस विषयमे आसक्ति ही होती है; तो फिर इससे तो अनेकान्त सिद्धान्तकी ही सिद्धि होती है—उक्त एकान्तकी नही। अर्थात् यह नतीजा निकलता है कि अभिप्रायको लिये हुए दु ख-सुखका उत्पादन पुण्य-पापका

हेतु है, अभिप्रायविहीन दु ख-सुखका उत्पादन पुण्य-पापका हेतु नही है।

अत उक्त दोनो एकान्त सिद्धान्त प्रमाणसे बाधित है, इष्टके भी विरुद्ध पडते हैं और इसलिये ठीक नही कहे जा सकते।

उभय तथा अवक्तव्य एकान्तोकी सदोषता

विरोधान्नोभयैकात्म्य स्याद्वाद-न्याय-विद्विषाम् ।
अवाच्यतैकान्तेऽप्युक्तिर्नाऽवाच्यमिति युज्यते ॥९४॥

'(पाप-पुण्यके बन्ध-सम्बन्धी प्रस्तुत दोनो एकान्तोकी अलग मान्यतामे दोष देखकर) यदि दोनो सिद्धान्तोके एकात्मरूप उभय एकान्तको माना जाय तो वह स्याद्वाद-न्यायसे द्वेष रखनेवालोके विरोध-दोषके कारण नहीं बनता। अवाच्यताका एकान्त माननेमे भी अवाच्य' है यह कहना युक्त नहीं ठहरता है, क्योकि 'अवाच्य' शब्दके द्वारा वह 'वाच्य' हो जायगा और तब सर्वथा अवाच्यता-का एकान्त नही रहेगा।

पुण्य-पापकी निर्दोष व्यवस्था

विशुद्धि-सक्लेशाङ्ग चेत् स्वपरस्थ सुखाऽसुखम् ।
पुण्य-पापास्रवौ युक्तौ न चेद्व्यर्थस्तवाऽर्हत ॥९५॥

'यदि स्व-परस्थ—अपना अथवा परका—सुख-दु ख विशुद्धि तथा सक्लेशका अङ्ग है—तत्कारण-कार्य वा स्वभावरूप है—तो वह सुख-दुःख यथाक्रम पुण्य-पापके आस्रव-बन्धका हेतु है और यदि विशुद्धि तथा सक्लेश दोनोमेसे किसीका भी अङ्ग—कारण-कार्य-स्वभावरूप—नही होता है तो (हे अर्हन् भगवन् !) आपके मतमे वह व्यर्थ कहा है—उसका कोई फल नही। अन्यथा, पूर्वकारिका (९३) मे कहे हुए 'अकेननाऽकषायौ' और 'वीतरागो मुनिर्विद्वान्' पदोमे जिनका उल्लेख है उनके भी बन्धका प्रसग उपस्थित होगा।'

व्याख्या—यहाँ 'सक्लेश' का अभिप्राय आर्त-रौद्रध्यानके

परिणामसे है—"आर्त-रौद्र-ध्यानपरिणाम संक्लेश." ऐसा अकलंकदेवने 'अष्टशती' टीकामे स्पष्ट लिखा है और श्रीविद्यानन्दने उसे 'अष्टसहस्री' मे अपनाया है। 'संक्लेश' शब्दके साथ प्रतिपक्षरूपसे प्रयुक्त होनेके कारण 'विशुद्धि' शब्दका अभिप्राय 'संक्लेशाऽभाव' है ("तदभाव. विशुद्धि" इत्यकलंक)—उस क्षायिकलक्षणा तथा अविनश्वरी परमशुद्धिका अभिप्राय नही है जो निरवशेष-रागादिके अभावरूप होती है, उस विशुद्धिमे तो पुण्य-पाप-बन्धके लिये कोई स्थान नही है। और इसलिए विशुद्धिका आशय यहाँ आर्तरौद्रध्यानसे रहित शुभपरिणतिका है। वह परिणति धर्म्यध्यान तथा शुक्लध्यानके स्वभावको लिये हुए होती है। ऐसी परिणतिके होनेपर ही आत्मा स्वात्मामे—स्वस्वरूपमे—स्थितिको प्राप्त होता है, चाहे वह कितने ही अशोमे क्यो न हो। इसीसे अकलंकदेवने अपनी व्याख्यामे, इस संक्लेशाभावरूप विशुद्धिको "आत्मन स्वात्मन्यवस्थानम्" रूपसे उल्लिखित किया है और इससे यह नतीजा निकलता है कि उक्त पुण्य-प्रसाधिका विशुद्धि आत्माके विकासमे सहायक होती है जब कि संक्लेशपरिणतिमे आत्माका विकास नही बन सकता—वह पाप-प्रसाधिका होनेसे आत्माके अध पतनका कारण बनती है। इसीलिए पुण्यको प्रशस्त और पापको अप्रशस्त कर्म कहा गया है।

विशुद्धिके कारण, विशुद्धिके कार्य और विशुद्धिके स्वभावको 'विशुद्धिअग' कहते है। इसी तरह संक्लेशके कारण, संक्लेशके कार्य तथा संक्लेशके स्वभावको 'संक्लेशाङ्ग' कहते हैं। स्व-परस्थ सुख-दुख यदि विशुद्धिअगको लिये हुए होता है तो वह पुण्य-रूप शुभ-बन्धका और संक्लेशाङ्गको लिए हुए होता है तो पाप-रूप अशुभबन्धका कारण होता है, अन्यथा नही। तत्त्वार्थसूत्रमे, "मिथ्यादर्शनाऽविरतप्रमादकषाययोगा बन्धहेतव" इस सूत्रके द्वारा मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योगरूपसे बन्धके जिन कारणोका निर्देश किया है वे सब संक्लेशपरिणाम ही है,

क्योंकि आर्त-रौद्रध्यानरूप परिणामोंके कारण होनेसे 'संक्लेशाङ्ग'-मे शामिल है; जैसे कि हिंसादि-क्रिया संक्लेशकार्य होनेसे संक्लेशाङ्गमे गर्भित है। अतः स्वामी समन्तभद्रके इस कथनसे उक्त सूत्रका कोई विरोध नहीं है। इसी तरह 'कायवाङ्मनः कर्म योगः', 'स आस्रवः', 'शुभः पुण्यस्याऽशुभः पापस्य' इन तीन सूत्रोंके द्वारा शुभकायादि-व्यापारको पुण्यास्रवका और अशुभ-कायादि-व्यापारको पापास्रवका जो हेतु प्रतिपादित किया है वह कथन भी इसके विरुद्ध नहीं पड़ता, क्योंकि कायादि-योगके भी विशुद्धि और संक्लेशके कारण-कार्य-स्वभावके द्वारा संक्लेशत्व-विशुद्धित्वकी व्यवस्थिति है। संक्लेशके कारण-कार्य-स्वभाव ऊपर बतलाए जा चुके हैं। विशुद्धिके कारण सम्यग्दर्शनादिक हैं, धर्म्यध्यान तथा शुक्लध्यान उनके स्वभाव हैं और विशुद्धिपरिणाम उनका कार्य है। ऐसी हालतमें स्व-पर-दुःखको हेतुभूत कायादि-क्रियाएँ यदि संक्लेश-कारण-कार्य-स्वभावको लिए हुए होती हैं तो वे संक्लेशाङ्गत्वके कारण, विषभक्षणादिरूप कायादिक्रियाओंकी तरह, प्राणियोंको अशुभफलदायक पुद्गलोंके सम्बन्धका कारण बनती हैं; और यदि विशुद्धि-कारण-कार्य-स्वभावको लिए हुए होती हैं तो विशुद्धयङ्गत्वके कारण, पथ्य आहारादिरूप कायादिक्रियाओंकी तरह, प्राणियोंके शुभफलदायक पुद्गलोंके सम्बन्धका कारण होती हैं। जो शुभफलदायक पुद्गल हैं वे पुण्यकर्म हैं, जो अशुभ-फलदायक पुद्गल हैं वे पापकर्म हैं, और इन पुण्य-पाप-कर्मोंके अनेक भेद हैं। इस प्रकार संक्षेपसे इस कारिकामें सम्पूर्ण शुभाऽशुभरूप पुण्यपापकर्मोंके आस्रव-बन्धका कारण सूचित किया है। इससे पुण्य-पापकी व्यवस्था बतलानेके लिये यह कारिका कितनी रहस्यपूर्ण है, इसे विज्ञपाठक स्वयं समझ सकते हैं।

सारांश इस सब कथनका इतना ही है कि—सुख और दुःख दोनों ही, चाहे स्वस्थ हो या परस्थ—अपनेको हो या दूसरोंको—कथंचित् पुण्यरूप आस्रव-बन्धके कारण हैं, विशुद्धिके अङ्ग होनेसे,

कथंचित् पापरूप आस्रव-बन्धके कारण हैं, संक्लेशके अङ्ग होनेसे, कथंचित् पुण्य-पाप उभयरूप आस्रव-बन्धके कारण हैं, क्रमार्पित विशुद्धि-संक्लेशके अङ्ग होनेसे, कथंचित् अवक्तव्य हैं, सहार्पित-विशुद्धि-संक्लेशके अङ्ग होनेसे। और विशुद्धि-संक्लेशका अङ्ग न होनेपर दोनों ही बन्धके कारण नहीं हैं। इस प्रकार नय-विवक्षाको लिए हुए अनेकान्तमार्गसे ही पुण्य-पापकी व्यवस्था ठीक बैठती है—सर्वथा एकान्तपक्षका आश्रय लेनेसे नहीं। एकान्त पक्ष सदोष है, जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है और इसलिये वह पुण्य-पापका सम्यक् व्यवस्थापक नहीं हो सकता।

इति देवागमाप्तमीमांसायां नवमः परिच्छेदः ।

दशम परिच्छेद

अज्ञानसे बन्धका और अल्पज्ञानसे मोक्षका एकान्त

अज्ञानाच्चेद्ध्रुवो बन्धो ज्ञेयाऽनन्त्यान्न केवली ।
ज्ञानस्तोकाद्विमोक्षश्चेदज्ञानाद्बहुतोऽन्यथा ॥९६॥

'यदि (सांख्यमतानुसार) अज्ञानसे बन्धका होना अवश्यंभावी माना जाय तो ज्ञेयोंकी अनन्तताके कारण कोई भी केवली—सकलविपर्यय-रहित तथा ज्ञानान्तरकी सहायता-रहित तत्त्वज्ञान-रूप केवलसे युक्त—न हो सकेगा। यदि अल्पज्ञानसे मोक्षका होना माना जाय तो अज्ञानके बहुत होनेके कारण बन्धका प्रसंग बराबर उपस्थित रहेगा और उसका निरोध न हो सकनेसे मोक्षका होना नहीं बन सकेगा।'

उभय और अवक्तव्य एकान्तोकी सदोषता

विरोधान्नोभयैकात्म्यं स्याद्वाद-न्याय-विद्विषाम् ।
अवाच्यतैकान्तेऽप्युक्तिर्नाऽवाच्यमिति युज्यते ॥९७॥

(सर्वात्मरूपसे एक व्यक्तिके एक कालमे) अल्पज्ञानसे मोक्ष और वहुत अज्ञानसे बन्ध इन दो एकान्तोमे स्याद्वाद-न्यायके विद्वेषियोंके अविरोध सिद्ध नहीं होता, अत परस्पर विरोधके कारण उभय एकान्त नहीं बनता। अवाच्यताका एकान्त माननेमे भी 'अवाच्य' है यह कहना ही नहीं बनता—इससे पूर्ववत् स्ववचन-विरोध घटित होता है।

अज्ञान-अल्पज्ञानसे बन्ध-मोक्षकी निर्दोष-विधि

अज्ञानान्मोहिनो बन्धो नाऽज्ञानाद्वीत-मोहतः ।
ज्ञानस्तोकाच्च मोक्षः स्यादमोहान्मोहिनोऽन्यथा॥९८॥

'मोह-सहित अज्ञानसे बन्ध होता है—जो अज्ञान मोहनीय-कर्मप्रकृति-लक्षणसे युक्त है वह स्थिति-अनुभागरूप स्वफलदान-समर्थ कर्म-बन्धका कर्त्ता है। जो अज्ञान मोहसे रहित है वह (उक्त फलदान-समर्थ) कर्म-बन्धका कर्त्ता नहीं है। और जो अल्पज्ञान मोहसे रहित है उससे मोक्ष होता है, परन्तु मोहसहित अल्पज्ञानसे कर्मबन्ध ही होता है।

कर्मबन्धानुसार संसार विविधरूप और बद्ध जीव शुद्धि-अशुद्धिके भेदसे दो भेदरूप

कामादि-प्रभवश्चित्रः कर्मबन्धाऽनुरूपतः ।
तच्च कर्म स्वहेतुभ्यो जीवास्ते शुद्ध्यशुद्धितः ॥९९॥

'कामादिकके उत्पादरूप जो भावसंसार कार्य है वह विचित्र है और कर्मबन्धकी अनुरूपतासे होता है—द्रव्य-कर्मोका बन्धन

जिस प्रकार प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभागकी विशेषता एव नाना-रूपताके कारण विचित्रताको लिए हुए ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीयादि अनेक प्रकारका होता है उसी प्रकार उदय-कालमे उसका कार्य भी अज्ञान, अदर्शन, मोह, राग, द्वेष, काम, क्रोध, मान, माया, लोभ, सुख, दु ख और शारीरिक रचनादिकी विचित्रताको लिये हुए नानारूप होता है। और इससे यह फलित होता है कि जो एक स्वभावरूप नित्य ईश्वर माना जाता है वह तथा उसकी इच्छा या ज्ञान इस नाना-स्वभावरूप जगतका कोई कर्ता नही हो सकता और न निमित्तकारण ही बन सकता है। इस विषयकी विशेष चर्चाको अष्टसहस्रीमे बहुत ऊहापोहके साथ स्थान दिया गया है।

और वह कर्मबन्धन अपने कारणोके—रागादिक भावोके—अनुरूप होता है। जिन्हे कर्मबन्ध होता है वे जीव शुद्धि और अशुद्धिके भेदसे दो प्रकारके हैं—भव्य और अभव्य। सम्यग्दर्शनादि शुद्धस्वभावरूप परिणत होनेकी योग्यताकी व्यक्ति रखनेवाले जीव 'भव्य' कहलाते हैं और जिनमे वह योग्यताकी व्यक्ति न होकर सदा मिथ्यादर्शनादिरूप अशुद्धपरिणति बनी रहती है वे 'अभव्य' कहे जाते हैं। जो शुद्धि-शक्तिसे युक्त हैं उन्हीकी काल पाकर मुक्ति हो सकती है, शेषकी नही।'

शुद्धि-अशुद्धि दो शक्तियोंकी सादि-अनादि व्यक्ति

शुद्ध्यशुद्धी पुनः शक्ती ते पाक्याऽपाक्य-शक्तिवत् ।
साद्यनादी तयोर्व्यक्ती स्वभावोऽतर्कगोचरः ॥१००॥

'और वे शुद्धि-अशुद्धि दोनो (मूग, उडद आदिके) पचने अपचनेकी योग्यताके समान—भव्य-अभव्य-स्वभावके रूपमे—दो शक्तियाँ है, जिनकी व्यक्ति—प्रादुर्भूति क्रमश. सादि-अनादि है—शुद्धिकी प्रादुर्भूति सादि और अशुद्धिकी प्रादुर्भूति अनादि है, क्योकि शुद्धिके अभिव्यजक सम्यग्दर्शनादिक सादि होते हैं और

क्योंकि कर्म-बन्धक मिथ्यादर्शनादिकी सन्तति अनादिसे चली आती है। और यह वस्तु-स्वभाव है जो तर्कका विषय नहीं होता—अर्थात् स्वभावमें यह हेतुवाद नहीं चलता कि ऐसा क्यों होता है।

प्रमाणका लक्षण और उसके भेद

तत्त्वज्ञानं प्रमाणं ते युगपत्सर्वभासनम् ।
क्रमभावि च यज्ज्ञानं स्याद्वाद-नय-संस्कृतम् ॥१०१॥

(हे अर्हद् भगवन्!) आपके मतमें तत्त्वज्ञानको प्रमाण कहा है। वह (तत्त्वरूपसे जाननेरूप) प्रमाणज्ञान एक तो युगपत् सर्वभासनरूप (केवलज्ञान) प्रत्यक्षज्ञान है और दूसरा क्रमशः भासनरूप (मति आदि) परोक्षज्ञान है। जो क्रमशः भासनरूप ज्ञान है वह स्याद्वाद तथा नयोंसे संस्कृत है—स्याद्वादरूप प्रमाण तथा नैगमादि नयोंके द्वारा संस्कारको प्राप्त है—प्रकट होता है।'

व्याख्या—तत्त्व (यथार्थ) रूपसे जाननेवाला ज्ञान प्रमाण कहलाता है। वह दो प्रकारका होता है—एक अक्रमभावि और दूसरा क्रमभावि। जो युगपत् समस्त पदार्थोंका प्रकाशन करता है वह अक्रमभावि है और वह पूर्णतया प्रमाणरूप होता है। किन्तु जो क्रमशः पदार्थोंका प्रकाशन करता है वह क्रमभावि है तथा वह स्याद्वाद (प्रमाण) और नय (अंशात्मक नैगमादि) दोनों रूप होता है।

प्रमाणोंका फल

उपेक्षा-फलमाद्यस्य शेषस्याऽऽदान-हान-धीः ।
पूर्वा वाऽज्ञाननाशो वा सर्वस्यास्य स्वगोचरे ॥१०२॥

युगपत्सर्वभासनरूप जो आद्य प्रमाण केवलज्ञान है उसका (अव्यवहित) फल उपेक्षा है। शेष क्रमशः भासनरूप जो प्रमाण

मत्यादि ज्ञान-समूह है उसका (व्यवहित-परपरा) फल ग्रहण और त्यागकी बुद्धि है तथा पूर्वमे कही हुई उपेक्षा भी उसका (व्यवहित) फल है और अपने विषयमे अज्ञानका नाश होना इस सारे ही प्रमाणरूप ज्ञानसमूहका (अव्यवहित अथवा साक्षात्) फल है।'

स्यात् निपातकी अर्थ-व्यवस्था

वाक्येष्वनेकान्तद्योती गम्यं प्रति विशेषणम् ।
स्यान्निपातोऽर्थ-योगित्वात्तव केवलिनामपि ॥१०३॥

('हे अर्हन् !) आपके तथा श्रुतकेवलियोके भी वाक्योमे प्रयुक्त होनेवाला 'स्यात्' निपात (अव्यय) शब्द अर्थके साथ सम्बद्ध होनेसे अनेकान्तका द्योतक[1] और गम्य-बोध्य (विवक्षित) का बोधक-सूचक (वाचक) माना गया है—अन्यथा अनेकान्त अर्थकी प्रतिपत्ति नही बनती।'

व्याख्या—सत्-असत्-नित्य-अनित्यादि सकल सर्वथैकान्तोके प्रतिक्षेप लक्षणको 'अनेकान्त' कहते हैं। और अपने वाक्यके परस्पर सापेक्ष पदोके तथा वाक्यान्तरके पदोसे निरपेक्ष[2] समुदायका नाम 'वाक्य' है। वाक्यके इस लक्षणसे भिन्न जो परवादियोके द्वारा प्रकल्पित अन्यथा वाक्य है वे निर्दोष न होकर बाधासहित है। वाक्यपदी (२, १-२) मे वाक्यके प्रति न्याय-विदोकी बाधा—भिन्न-मतिकी सूचना करते हुए दस प्रकारके वाक्योका उल्लेख है, जिनके नाम हैं—(१) आख्यातशब्द, (२) सघात, (३) जाति सघातवर्तिनी,

---

१ 'द्योतकाश्च भवन्ति निपाता' इति वचनात् (अष्टसहस्री) अर्थात्—निपात शब्द केवल वाचक ही नहीं किन्तु (प्रकृत अर्थसे भिन्न अर्थके) द्योतक भी होते हैं ।

२ वाक्यान्तरगतपदनिरपेक्ष (अष्टसहस्री, पृष्ठ २८५ टिप्पण)।

(४) एकोनवयवशब्द, (५) क्रम, (६) बुद्धि, (७) अनुसहृति, (८) आद्यपद, (९) अन्त्यपद, (१०) सापेक्षपद।

इन वाक्यप्रकारोमे वाक्यके (अकलकदेवकृत) उक्त लक्षण-की दृष्टिसे कौन वाक्य-भेद सदोष और कौन निर्दोष कहा जा सकता है, इसका अष्टसहस्रीमे श्रीविद्यानन्दाचार्यने सहेतुक विस्तृत विचार किया है।

स्याद्वादका स्वरूप

स्याद्वादः सर्वथैकान्त-त्यागात् किंवृत्तचिद्विधिः।
सप्तभंग-नयापेक्षो हेयाऽऽदेय-विशेषकः ॥१०४॥

'स्यात्-शब्द सर्वथा एकान्तका त्यागी होनेसे 'किं' शब्द-निष्पन्न चित्-प्रकारके रूपमे कथचित् कथचन आदिका वाचक है—और इसलिये कथचित् आदि शब्द स्याद्वादके पर्याय-नाम हैं। यह स्याद्वाद सप्तभंगो और नयोकी अपेक्षाको लिये रहता तथा हेय-उपादेयका विशेषक (भेदक) होता है—स्याद्वादके बिना हेय और उपादेयकी विशेषरूपसे व्यवस्था नही बनती।'

व्याख्या—जिन सप्तभगोका यहाँ उल्लेख है उन अस्ति-नास्ति-अवक्तव्यादि-रूप सात भगोका निर्देश ग्रन्थमे इससे पहले आ चुका है। रही नयोकी बात, सो नयोके मूलोत्तर-भेदादिके रूपमे बहुत विकल्प हैं। जैसे द्रव्य-पर्यायकी दृष्टिसे द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक ये दो मूल नय हैं, अध्यात्मदृष्टिसे निश्चय और व्यवहार ये दो भी मूल नय है। शुद्धि-अशुद्धिकी दृष्टिसे भी नयोके दो-दो भेद किये जाते हैं, जैसे शुद्धद्रव्यार्थिक, अशुद्धद्रव्यार्थिक, शुद्धपर्यायार्थिक, अशुद्धपर्यायार्थिक, शुद्धनिश्चय, अशुद्धनिश्चय, सद्भूतव्यवहार, असद्भूतव्यवहार इत्यादि। द्रव्यार्थिकके उत्तरभेद तीन—नैगम, सग्रह और व्यवहार, पर्यायार्थिकके उत्तरभेद चार—ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवभूत। इन सप्तनयोमे प्रथम चार भेद

'अर्थनय' और शेष तीन भेद 'शब्दनय' कहे जाते हैं। इन सबके उत्तरोत्तर भेद असख्य हैं। सक्षेपमे कहा जाय तो जितने वचनमार्ग हैं—शब्दभेद हैं—तथा अपने-अपने ज्ञानके विकल्प हैं उतने-उतने नयोके भेद हैं। नयोका यह विषय बडा ही गहन-गभीर है। इनके लक्षणादिका विशेष कथन नयचक्रादि ग्रन्थोसे जानने योग्य है।

स्याद्वाद और केवलज्ञानमें भेद-निर्देश

स्याद्वाद-केवलज्ञाने सर्वतत्त्व-प्रकाशने।
भेदः साक्षादसाक्षाच्च ह्यवस्त्वन्यतम भवेत् ॥१०५॥

स्याद्वाद और केवलज्ञान दोनो (जीवादि) सब तत्त्वोंके प्रकाशक हैं। दोनोंके प्रकाशनमे साक्षात् और असाक्षात् (परोक्ष)-का भेद (अन्तर) है—केवलज्ञान जीव, अजीव, आस्रव, वन्ध, सवर, निर्जरा, मोक्ष इन सात तत्त्वोका प्रत्यक्षत एव युगपत् प्रकाशक है और स्याद्वादरूप श्रुतज्ञान इन पदार्थोंका अप्रत्यक्षत (परोक्षरूपसे) क्रमश प्रकाशक है। इन दोनो ज्ञानोमेसे जो किसी भी ज्ञानके द्वारा प्रकाशित अथवा उसका वाच्य नहीं वह अवस्तु होती है।'

नय-हेतुका लक्षण

सधर्मणैव साध्यस्य साधर्म्यादविरोधतः।
स्याद्वाद-प्रविभक्तार्थ-विशेष-व्यञ्जको नयः ॥१०६॥

'स्याद्वादरूप परमागमसे विभक्त हुए अर्थविशेषका—शक्य-अभिप्रेत-अप्रसिद्धरूप विवादगोचर साध्यका—जो सधर्मा—दृष्टान्त-के द्वारा, साध्यके साधर्म्यसे और (विपक्षके) अविरोधरूपसे व्यञ्जक है—गमक अथवा बोधक है—उसको नय—नयविशेषरूप हेतु—कहते हैं—'नीयते गम्यते साध्योऽर्थोऽनेन इति नय' इस निरुक्तिसे 'नय' शब्द यहाँ हेतुका वाचक है और अनेक धर्मोंमेसे एक-धर्म-प्रतिपादक सामान्य नयकी दृष्टिमे भी वह स्थित है।'

द्रव्यका स्वरूप और भेदोकी सूचना

नयोपनयैकान्तानां त्रिकालानां समुच्चयः ।
अविभ्राड्भावसम्बन्धो द्रव्यमेकमनेकधा ॥१०७॥

'त्रिकालवर्ति नयो-उपनयोके एकान्त-विषयोका—पर्याय-विशेषोका—जो अपृथक्स्वभाव (तादात्म्य) सम्बन्धको लिये हुए समुच्चय-समूह है वह द्रव्य-वस्तु है और वह एक अनेक भेदरूप है।'

निरपेक्ष और सापेक्ष नयोकी स्थिति

मिथ्या-समूहो मिथ्या चेन्न मिथ्यैकान्ततास्ति नः ।
निरपेक्षा नया मिथ्या सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत् ॥१०८॥

'यदि यह कहा जाय कि (एकान्तोको तो आप मिथ्या बतलाते है तब नयो और उपनयो-रूप एकान्तोका जो समूह द्रव्य है वह मिथ्या-समूह ठहरा) **मिथ्याओका जो समूह वह तो मिथ्या ही होता है** (अत द्रव्य कोई वस्तु न रहा) **तो यह कहना ठीक नही है, क्योकि** (हे जिनदेव !) **आपके मतमे और इसलिये हमारेमे** (सापेक्ष नयोका ग्रहण होनेसे) **मिथ्या एकान्तता नहीं है, जो नय** (प्रतिपक्षी धर्मके सर्वथा निराकरणरूप) **निरपेक्ष होते हैं वे ही मिथ्यानय** (दुर्नय) **होते है सापेक्ष नय** (जो कि प्रतिपक्षी धर्मकी उपेक्षा अथवा उसे गौण किये होते है) **मिथ्या न होकर सम्यक्नय होते है, उनके विषय अर्थ-क्रियाकारी होते है और इसलिये उनके समूहके वस्तुपना सुघटित है।**

व्याख्या—यहाँ अनेकान्तके प्रतिपक्षी-द्वारा यह आपत्ति की गई है कि जब एकान्तोको मिथ्या बतलाया जाता है तब नयो और उपनयो-रूप एकान्तोका समूह जो अनेकान्त और तदात्मक वस्तुतत्त्व है वह भी मिथ्या ठहरता है, क्योकि मिथ्याओका समूह मिथ्या ही होता है। इसपर ग्रन्थकारमहोदय कहते हैं कि यह

आपत्ति ठीक नही है; क्योकि हमारे यहाँ कोई भी वस्तु मिथ्या एकान्तके रूपमे नही है। जव वस्तुका एक धर्म दूसरे धर्मकी अपेक्षा नही रखता—उसका तिरस्कार कर देता है—तो वह मिथ्या कहा जाता है और जव वह उसकी अपेक्षा रखता है—उसका तिरस्कार नही करता—तो वह सम्यक् माना जाता है। वास्तवमे वस्तु निरपेक्ष एकान्त नही है, जिसे सर्वथा एकान्तवादी मानते है, किन्तु सापेक्ष एकान्त है और सापेक्ष एकान्तोंके समूह-का नाम ही अनेकान्त है, तव उसे और तदात्मक वस्तुको मिथ्या कैसे कहा जा सकता है ? नही कहा जा सकता।

वस्तुको विधि-वाक्यादि-द्वारा नियमित किया जाता है

नियम्यतेऽर्थो वाक्येन विधिना वारणेन वा ।
तथाऽन्यथा च सोऽवश्यमविशेष्यत्वमन्यथा ॥१०९॥

(यदि कोई यह शका करे कि वस्तुतत्त्व जव अनेकान्तात्मक है तव वाक्यके द्वारा उसे कैसे नियमित किया जाय, जिससे प्रति-नियत विषयमे लोककी प्रवृत्ति वन सके, तो उसका समाधान यह है कि) अनेकान्तात्मक वस्तुतत्त्व विधिवाक्य अथवा निषेध-वाक्यके द्वारा नियमित किया जाता है। विधि या निषेधरूप जिस वाक्यके द्वारा वह नियमित किया जाय उसरूप तथा उससे अन्यथा—विपक्षरूप वह अवश्य होता है, क्योकि विधि-निषेधका परस्पर अविनाभाव-सम्वन्ध है और इसमे जिस विधि या निषेध-वाक्यके द्वारा वह नियमित किया जाता है वह उस समय मुख्य होता है और प्रतिपक्षी वाक्यका विषय गौण। यदि ऐसा न माना जाय—विधि-निषेधरूपसे उसका अवश्यभावीपना स्वीकार न किया जाय—तो उस केवल विधि या केवल निषेध-वाक्यसे जो विशेष्य (वस्तु-तत्त्व) है वह नहीं वन सकेगा; क्योकि प्रतिषेधरहित विधिके और विधिरहित प्रतिषेधके विशेषणपना नही वनता और विधि-प्रतिषेध दोनोंसे रहितके गगन-कुसुमके समान विशेष्यपना नही

बनता है। और इस तरह सत् असत् आदि वाक्योंमे विधि-निषेधकी गौण तथा प्रधानरूपसे वृत्तिका होना लक्षित होता है।'

तत्तद्रूप वस्तुको तद्रूप ही कहनेवाली वाणी सत्य नही

तदतद्वस्तु वागेषा तदेवेत्यनुशासती ।

न सत्या स्यान्मृषा-वाक्यैः कथं तत्त्वार्थ-देशना ॥११०॥

'(यदि यह कहा जाय कि वाक्य विधिके द्वारा ही वस्तुतत्त्व-का नियमन करता है तो यह सर्वथा एकान्त ठीक नही है, क्योंकि) वस्तु तत्-अतत्‌रूप है—दृष्टि-भेदके साथ अविनाभावसम्बन्धको लिये हुए सत्-असत्, नित्य-अनित्यादि अनेकान्तरूप है—जो वाक्य (वाणी) उसे सर्वथा तत्‌रूप—सत्-नित्यादिरूप—ही प्रतिपादन करता है—उसके प्रतिपक्षी अविनाभावी धर्मको गौण किये हुए न होकर उसका विरोधक है—वह सत्य नहीं होता तब (ऐसे) मिथ्या-वाक्योंसे तत्त्वार्थकी—यथार्थ वस्तुस्वरूपकी—देशना (कथनी) कैसे बन सकती है ?—नही बन सकती।'

व्याख्या—यद्यपि सभी (विधि और प्रतिषेध) वाक्य विधि और प्रतिषेध दोनों-रूप वस्तुका प्रतिपादन करते हैं फिर भी यदि कहा जाय कि वे केवल विधिका ही अनुशासन (उपदेश) करते हैं तो यह कथन सत्य (यथार्थ) नही—मिथ्या है और मिथ्या-वाक्योंके द्वारा वस्तुस्वरूपका यथार्थ कथन नही बन सकता। अतः वाक्य चाहे विधिरूप हो और चाहे निषेधरूप सभी विधि तथा प्रतिषेध दोनो-रूप वस्तुका प्रतिपादन करते हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि विधि-वाक्यके द्वारा विधिका कथन मुख्यरूपसे और प्रतिषेधका कथन गौणरूपसे तथा प्रतिषेध-वाक्यके द्वारा प्रतिषेधका कथन मुख्यरूपसे और विधिका कथन गौणरूपसे किया जाता है। यही यथार्थ तत्त्व-देशना है।

वाक्-स्वभाव-निर्देश, तद्भिन्न वाक्य अवस्तु

वाक्स्वभावोऽन्यवागर्थ-प्रतिषेध-निरङ्कुशः ।
आह च स्वार्थ-सामान्य तादृग्वाक्य ख-पुष्पवत् ॥१११॥

'(यदि बौद्धोकी मान्यतानुसार यह कहा जाय कि वाक्य प्रतिषेधके द्वारा ही वस्तुतत्त्वका नियमन करता है तो यह एकान्त भी ठीक नही है, क्योकि) **वाक्यका यह स्वभाव है कि वह अपने अर्थ-सामान्यका प्रतिपादन करता हुआ अन्य-वाक्योके अर्थ-प्रतिषेध-मे निरकुश होता है**—बिना किसी रोक-टोकके दूसरे सब वाक्योके विषयका निषेध करता है; जैसे 'घट लाओ' यह वाक्य पट लाओ, लोटा लाओ, घडी लाओ, मेज (कुर्सी) लाओ इत्यादि पर-वाक्यो-के अर्थका स्वभावसे निषेधकरूप है। **इस वाक्-स्वभावसे भिन्न बौद्धोका जो उस प्रकारका अन्यापोहात्मक वाक्य है वह आकाशके पुष्प-समान अवस्तु है**—कहा-न-कहाके बराबर अथवा अनुक्त-तुल्य है, क्योकि विशेष-रहित सामान्य और सामान्य-शून्य विशेष कहीं भी (बाहर-भीतर) उपलब्ध नही होता। जब उपलब्ध नही होता तब विशेष-रहित सामान्य ही अथवा सामान्य-शून्य विशेष ही वस्तुका स्वरूप है, इस प्रकारके आग्रह-द्वारा स्व-परको कैसे ठगा जाय ? नही ठगा जाना चाहिये।

व्याख्या—बौद्धोंकी मान्यता है कि कोई भी वाक्य हो वे सब अन्यापोह-रूप प्रतिषेधका ही प्रतिपादन करते हैं, विधिका नही। इस पर आचार्य कहते है —वाक्य (वाणी) का यह स्वभाव है कि वह अन्य वाक्यो-द्वारा प्रतिपादित अर्थका निर्बाधरूपसे प्रतिषेध करता है और अपने विधिरूप अर्थ-सामान्यका भी कथन करता है। यदि केवल अन्यापोहरूप प्रतिषेध ही वाच्य हो तो उक्त प्रकारका वाच्य आकाश-पुष्पकी तरह असत् है। हमे विशेषको छोडकर केवल सामान्य और सामान्यको छोडकर केवल विशेष कही उपलब्ध नही होता। जब उक्त प्रकारका वाच्य उपलब्ध

नही होता तो हम ऐसा अभिनिवेश करके कि वाक्यके द्वारा स्व (विधि) अथवा पर (प्रतिषेध-अन्यापोह) ही कहा जाता है, क्यो भ्रामक प्रवृत्ति करे या दूसरोको ठगे । अत जिस प्रकार वाक्य-के द्वारा केवल विधिका ही नियमन नही होता उसी तरह केवल प्रतिषेध (अन्यापोह) का भी नियमन नही होता । किन्तु उभय-का नियमन होता है और यह वाक्य (वाणी) का स्वभाव है ।

अभिप्रेत-विशेषकी प्राप्तिका सच्चा साधन

सामान्यवाग्विशेषे चेन्न शब्दार्थो मृषा हि सा ।
अभिप्रेत-विशेषाप्तेः स्यात्कारः सत्य-लाञ्छनः ॥११२॥

'यदि यह कहा जाय कि ('अस्ति' जैसा) सामान्य वाक्य परके अभावरूप (अन्यापोह) विशेषमे वर्तता है—उसे प्रति-पादित करता है—तो यह ठीक नही है, क्योकि सामान्यवाक्य विशेषमे शब्दार्थरूप नही है—अभिप्रायमे स्थित विशेषको नही जनाता अथवा प्रतिपादित नही करता—और इसलिये सत्यरूप न होकर मिथ्या-वाक्य है । अभिप्रायमे स्थित जो विशेष उसकी प्राप्तिका सच्चा लक्षण अथवा चिन्ह स्याद्वाद' (स्यात् शब्दपूर्वक वाद-कथन) है—सामान्य-विशेषात्मक वस्तुका जब मुख्यत सामान्यरूपसे कथन किया जाता है तब उसका विशेषरूप गौण होकर वक्ताके अभिप्रायमे स्थित होता है, जिसे साथमे प्रयुक्त 'स्यात्' शब्द व्यक्त अथवा सूचित करता है । और इसलिये 'स्यात्कार' अभिप्रेत-विशेषके जाननेका सच्चा साधन एव मार्ग है । अभिप्रेत वही होता है जो स्वरूपादि (स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव) के द्वारा सत् होता है—पररूपादिके द्वारा सत् नही ।'

व्याख्या—बौद्धोका कथन है कि विधिरूप सामान्यको कहने-वाला वाक्य भी विशेष (अन्यापोह) का ही प्रतिपादन करता है—उसीमे उसकी प्रवृत्ति होती है । पर उनका यह कथन सगत

नही है, क्योकि इससे अन्यापोह-शब्दका अर्थ सिद्ध नही होता। शब्दका वही अर्थ माना जाता है जिसमे उस शब्दकी प्रवृत्ति हो। अन्यापोहमे किसी भी शब्दकी प्रवृत्ति नही होती। ऐसी स्थितिमे विधिरूप सामान्यको कहनेवाला वाक्य भी आपके मतानुसार मिथ्या ठहरता है। वास्तवमे वही वाक्य सत्य है जिसके द्वारा अपने अभिप्रेत अर्थ-विशेषकी प्राप्ति होती है और ऐसा वाक्य 'स्यात्' शब्दसे युक्त ही सभव है और उसीसे सत्य (यथार्थ अर्थ) की पहचान होती है। क्योकि वह लोगोको अभिप्रेत अर्थ-विशेष-की प्राप्ति कराता है। अन्य (स्यात्कारसे रहित) वाक्योसे अर्थ-विशेषकी प्राप्ति नही होती। यही स्याद्वाद और अन्यवादोमे विशेष अन्तर है।

स्याद्वाद-सस्थिति

विधेयमीप्सितार्थाङ्ग प्रतिषेध्याऽविरोधि यत्।
तथैवाऽऽदेय-हेयत्वमिति स्याद्वाद-सस्थितिः ॥११३॥

'(अस्ति इत्यादिरूप) जो विधेय है—मनके अभिप्रायपूर्वक जिसका विधान किया जाता है, किसीके भयादिवश नही—और ईप्सित-अर्थक्रियाका कारण है वह प्रतिषेध्यके—नास्तित्वादिके —साथ अविरोधरूप है—जो नास्तित्वादिके साथ अविरोधरूप नही वह ईप्सित-अर्थक्रियाका कारण भी नही हो सकता; क्योकि विधि-प्रतिषेधके परस्पर अविनाभाव-सम्बन्ध है, विधिके बिना प्रतिषेधका और प्रतिषेधके बिना विधिका अस्तित्व नही बनता। और जिस प्रकार विधेय प्रतिषेध्यका अविरोधी ईप्सित अर्थ-क्रियाका अंग-कारण सिद्ध है उसी प्रकार वस्तुका आदेय-हेयपना है, अन्यथा नहीं, क्योकि विधेयका एकान्त होनेपर किसीके हेयत्वका विरोध होता है, प्रतिषेध्यका एकान्त होनेपर किसीके आदेयत्वका विरोध होता है, स्याद्वादीके अभिप्रायानुसार सर्वथा विधेय ही प्रतिषेध्य नही होता, कथचित् विधि-प्रतिषेध्यके तादात्म्य

दयासे युक्त है, इन्द्रिय-दमन, परिग्रह-त्यजन और ध्यान-समाधिकी तत्परताको लिए तथा उनकी शिक्षाओंमे परिपूर्ण है, नयो तथा प्रमाणोंसे भले प्रकार पुष्ट है, सर्वबाधाओंसे विवर्जित है, सबके हितरूप है और अन्य समस्त एकान्त-शासनोके द्वारा अजेय है—कोई भी उसे जीत नही सकता—उन श्रीवीर भगवान्को मै नत-मस्तक होता हूँ ।]

यद्भक्तिभाव-निरता मुनयोऽकलक-
विद्यादिनन्द-जिनसेन-सुवादिराजाः
गायन्ति दिव्य-वचनैः सुयशांसि यस्य
भूयाच्छ्रियै स युगवीर-समन्तभद्रः ॥३॥

[जिनकी भक्तिमे लीन हुए अकलकदेव, विद्यानन्दस्वामी, भगवज्जिनसेन और वादिराज प्रमुख जैसे महामुनि अपने दिव्य-वचनो-द्वारा जिनके सुयशोका गान करते हैं वे युगवीर—इस युगके प्रधान पुरुष—श्रीसमन्तभद्रस्वामी हमारी श्री[1]वृद्धिके लिए निमित्त-भूत होवे—उनके प्रसादसे अथवा प्रसन्नतापूर्वक आराधनसे हमे निजश्रीकी—आत्मीय लक्ष्मी-ज्योति, शोभा-प्रभा सम्पत्ति-विभूति, शक्ति-सरस्वती और सिद्धि-समृद्धिकी—अधिकाधिक प्राप्ति होवे ।]

इति श्रीनिरवद्यस्याद्वादविद्याधिपति - सकलतार्किकचक्रचूडामणि-श्रद्धा-गुणज्ञतादिसातिशयगुणगणविभूषित-सिद्धसारस्वत-स्वामिसमन्तभद्राचार्यप्रणीत सम्यग्मिथ्योपदेशार्थविशेषप्रतिपत्तिरूप देवागमाऽपरनामाऽऽप्तमीमासाशास्त्र युगवीर-जुगलकिशोर-मुख्तारविरचित-स्पष्टार्थादियुक्ताऽनुवादसमन्वित समाप्तम् ।

---

१ 'श्री' शब्द उन सभी अर्थोंमें प्रयुक्त होता है जिन्हें 'निजश्री' की व्याख्यामें व्यक्त किया गया है और जो यहाँ विवक्षित हैं ।

देवागम-कारिकाऽनुक्रमणिका

कारिकाऽऽद्यचरण क्रमाङ्कसहित



देवागमकी प्रमुख-शब्द-सूची

कारिका-सख्याङ्क-सहित

